हिन्दी-साहित्य-समीक्षा

सम्पादक

श्री गुर्ती सुब्रह्मण्य, एम०, ए० साहित्यरत्न

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

हिन्दी-साहित्य-समीक्षा

सम्पादक

श्रीयुत गुर्ती सुब्रह्मण्य एम०, ए०
साहित्यरत्न

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

मुद्रक
श्री रघुनाथप्रसाद वर्मा
नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग ।

विषय-सूची

भूमिका

मनुष्य की विचारधारा का लिपिबद्ध स्वरूप ही साहित्य है। पुरातन समय से आज तक मनुष्य के विचारक्षेत्र में जो जो क्रांतियाँ हुईं, सभ्यता के विकास में मानव जाति को जिन जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा; स्वराष्ट्रनिर्माण तथा पराराष्ट्र विजय में जिस संगीतरूपिणी वाग्देवी का वरदहस्त प्राप्त हुआ; मनुष्यजाति के उत्थानपतन की रूपरेखा जिस चित्रपटी में अंकित की गई—उन सब का समावेश साहित्य ही में किया जाता है। साहित्य का सम्बन्ध लेखनकला से है न कि वाक्शक्ति से। अतएव साहित्य भावनाओं को लिपिबद्ध स्वरूप देता है। न्यूमन नामक एक अंग्रेजी विद्वान् ने साहित्य की परिभाषा देते हुए कहा है:—

साहित्य क्या है

"साहित्य वाह्य या दृश्य सत्य को प्रकट नहीं करता वरन् आन्तरिक सत्य को; वस्तुओं को प्रकट नहीं करता, वरन् विचारों को।"

अतएव यह स्पष्ट है कि साहित्य मनुष्य के विश्वव्यापी (Universal) भावनाओं का प्रतीक है।

साहित्य का मूल भाषा है। यदि भाषा ने अस्तव्यस्त मानव जाति को एक सामुहिक रूप प्रदान किया तो साहित्य ने उस समूह को संस्कृत बनाने में सहयोग दिया। जब साहित्य और भाषा मनुष्य के हृदय में भावनायें उद्भूत हुईं तब स्वभावतः उन्हें प्रकट करने की इच्छा हुई। पहले हस्तादि के इङ्गितों के द्वारा यह इच्छा पूरी हुई। बाद को वाक्-शक्ति के प्रयोग से विचारों का आदानप्रदान हुआ। उन विचारों को विस्मृतिगह्वर से बचाने के लिये, लिपिबद्ध करना पड़ा जिससे साहित्य की सृष्टि हुई। साहित्य निर्माण तक मानव जाति काफी ज्ञान प्राप्त कर चुकी थी। भाषा का निर्माण अज्ञानावस्था में हुआ, साहित्य का ज्ञानावस्था में। भाषा और साहित्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भाषा मनुष्य के पाशविक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है; साहित्य उसके संस्कार-जन्य मानसिक प्रवृत्तियों की पिपासा शान्त करती है। भाषा असंयम है तो साहित्य संयम। यदि किसी रसिक ने कहा कि—

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः
साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः

तो इसमें कोई अत्युक्ति की बात नहीं। मनुष्य के मनुष्यत्व की भी परख साहित्य के ही द्वारा हो सकती है।

जिन सूक्ष्म भावनाओं को लेकर साहित्य की सृष्टि हुई है, इन्हीं भावनाओं का संघर्षपूर्ण स्वरूप ही समालोचना है।

समालोचना का मूल

कविता, उपन्यास, गल्प, नाटक, प्रहसन आदि साहित्य के भेद माने गये हैं। इस विभेदीकरण के मूल में जो शक्ति अवसित है उसी का नाम 'समालोचना' है। जहाँ भावनाओं का उद्‌गम है वहीं समालोचना का भी। हमारी सृष्टि में पग पग पर समालोचना का आभास मिलता है। यह जो क्षण क्षण में परिवर्तन होते रहते हैं, रात के पीछे दिन का आगमन होता है, बादलों के घनघोर गर्जन के बाद मूसलाधार वृष्टि होने लगती है, सबसे यह स्पष्ट है कि प्रकृति में भी समालोचक और समालोच्य दोनों विद्यमान हैं। वास्तविकता के प्रति असन्तोष, और यथार्थता का विरोध ही समालोचना का मूल है। जिस आदि-कवि ने आवेश में आकर कहा था कि:—

मा-निषाद प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्च-मिथुना-देकमवधीः काममोहितम्॥

उसको क्या यह विदित था कि मेरे इस वाणी में समालोचक उद्‌भूत हुआ है? क्या उसको इस बात का लेशमात्र भी आभास था कि ये मेरे उद्‌गार उन अन्तर्निहित दुःखपूर्ण भावनाओं के आलोचनाप्रतीक हैं। बहुत संभव है कि उस आदि कवि के हृदय में इस तरह की कोई भावना न उत्पन्न हुई हो। सत्य तो यह है कि उस समय वह चेतनाहीन अवस्था में था। उसके

हृदय में दुःख के बाहुल्य से एक प्रतिक्रिया (Reaction) हुई, जिसे उसने छन्दोबद्ध भाषा में प्रकट किया। सृष्टि के अन्तर्गत जो प्रतिक्रिया है उसी का प्रतिबिम्ब साहित्य है, और उस प्रतिक्रिया के मूल में जो भावना अन्तर्हित है उसी का नाम समालोचना है। आदि कवि की वाणी समस्त चराचर सृष्टि की समीक्षा में प्रवृत्त हुई और एक विशालकाय महाकाव्य का निर्माण हुआ। जहाँ एक ओर विचारधारा का सृजन हुआ वहाँ दूसरी ओर समालोचना का भी उद्भव हुआ।

मूलतः समालोचना का अर्थ है:—सम्यक् विचार करना। सम्यक्+आलोचन—इस व्युत्पत्ति से समालोचना का अर्थ हुआ—'अच्छी प्रकार से किसी विषय का

समालोचना का अर्थ

विचार करना। विचार के अन्तर्गत आरंभ (Pros) और परिणाम (cons) दोनों का समावेश है। किसी विषय का अच्छी रीति से आलोचन ही विचार की सृष्टि करता है। अतएव किसी विषय का तत्वतः विचार करने ही का नाम समालोचना है!

साहित्य में समालोचना का कार्य बहुत ही गुरुतर है। साहित्य में जो अनर्गल और अनावश्यक विषयों का समावेश हो जाता है उसका परिशोधन समालोचना के

साहित्य और समालोचना का समन्वय

ही द्वारा होता है। यदि साहित्य एक वन्यवृक्ष है तो उसे उपवन-तरु बनाने में एक समालोचक ही समर्थ है। साहित्य रूपी उद्यान में काटने

(Pruning) और सींचने के दोनों काम समालोचना ही के द्वारा हो सकते हैं। साहित्य के विभिन्न अंगों में समालोचना का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

समालोचना की परिभाषाएँ

(१) पाश्चात्य परिभाषा

समालोचना और आलोचना-शास्त्र का महत्व अधिकतर पाश्चात्य देशों ही में रहा है। इसी कारण से वहाँ कई दृष्टिकोणों से समालोचना की परिभाषा की गई है।

प्रसिद्ध कवि तथा समालोचक मैथ्यू आर्नल्ड ने समालोचना की परिभाषा देते हुए कहा है—"जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, संसार में सबसे सुन्दर वस्तु और भावना का ज्ञान तथा उसे निष्पक्षता और योग्यता के साथ एक नवीन भावधारा में प्रवाहित करना ही, समालोचना का उद्देश है।"

आर्नल्ड ने समालोचना के बहुत ही महान् उद्देश हमारे सामने रक्खे हैं। एक तो सबसे सुन्दर वस्तु की खोज करना, दूसरे उसके प्रचार का बीड़ा उठाना—दोनों एक से एक गुरुतर कार्य हैं। सबसे सुन्दर वस्तु की खोज तीन मंजिलों के पार करने पर ही हो सकती है। सर्वप्रथम उस वस्तु का वास्तविक मूल्याङ्कन करे, फिर उसके ऐतिहासिक महत्व की खोज करे, और तब स्वयं अपने विचार प्रकट करे। ये तीनों किसी विरले ही पुरुष के लिये संभव हैं। जो यह कर सकता है वह वास्तव में समालोचक के पद का अधिकारी है। किसी भी वस्तु का वास्त-

त्विक मूल्याङ्कन करना बहुत ही कठिन है क्योंकि प्रत्येक वस्तु बाह्य आवरण से ढकी रहती है। फिर उसमें ऐतिहासिक महत्व की खोज के लिये अत्यधिक अध्ययन, गंभीरता और विद्वत्ता की आवश्यकता है। इसके पश्चात् अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट करना-जब कि इतने परिश्रम के बाद स्वतन्त्र विचार रह ही नहीं जाते, असम्भव नहीं तो उपहासास्पद अवश्य है।

फ्रान्स के प्रसिद्ध विद्वान् ब्रूनेटियर का कथन है कि समालोचना के तीन उद्देश हैं "(१) किसी वस्तु का अर्थ करना (२) वर्गीकरण करना (३) और उस पर अपना निर्णय देना।"

आगे चल कर ब्रूनेटियर ने स्वयं कहा है कि समालोचक का कर्तव्य तब पूरा हो जाता है जब वह साहित्य और कला का प्रतिनिधिस्वरूप होकर लोकमत प्रकट करता है! यदि पहिली परिभाषा का दृष्टिकोण केवल साहित्यिक रहा तो इसका दृष्टिकोण राजनीतिक है।

तीसरी परिभाषा दार्शनिक है जिसके आचार्य कान्ट थे। "समालोचना उस सिद्धान्त या सामान्यतत्व को खोजने का प्रयत्न है जो प्रत्येक मतभेद के अन्तर्गत विलीन रहता है।" इसी मत का अनुसरण करते हुए अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिक एमर्सन ने कहा था कि "सबसे बड़ा समालोचक वह ऐक्य है, वह परम आत्मा है, जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा अन्तर्हित है, और सबके साथ जिसका संयोग हो जाता है।"

इस परिभाषा में इहलोक की वास्तविकता का बिलकुल ही ध्यान उड़ा दिया गया है। एक अस्पष्ट भाषा में समालोचना का महत्व प्रकट किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि समालोचक अस्थिचर्ममयदेह का कोई पुरुष या स्त्री नहीं है वरन् यदि ईश्वर नहीं तो ईश्वर तुल्य अवश्य है जो कि सृष्टि-संयोग के महान् कार्य में संलग्न है।

एक चित्रकार के दृष्टिकोण को सामने रखते हुए हैजलिट लिखता है—"मेरी समझ में सच्ची आलोचना किसी भी कृति के रंग, धूपछाँह, आत्मा और शरीर को प्रकट करती है ❀।"

एक चित्रकार का कार्य इसमें पूर्णतया आ जाता है।

कोरे कलाकार का दृष्टिकोण पेटर के शब्दों में स्पष्ट है:—"कवि या चित्रकार के गुणों को प्राप्त करना, उसका अनुभव करना और उसे प्रकट करना—ये तीन ही उसके कर्तव्य की सीढ़ियाँ हैं।"

समालोचक के प्रति यदि एक उपन्यासकार का मत जानना चाहते हैं तो हमें अनातोले फ्रान्स की शरण लेनी होगी। वह कहता है कि "समालोचना विचित्र मस्तिष्क वाले पुरुषों के प्रयोग के लिये दर्शन और इतिहास की तरह एक प्रकार का उपन्यास है।"

अच्छे समालोचक के लिये यह आवश्यक है कि वह आत्मा

❀ हैजलिट कृत 'टेबिलटाक' से।

के विभिन्न व्यापारों और अनुभवों को बड़े रोचक ढङ्ग से वर्णन करे। उसका कार्य तब तक अपूर्ण रहेगा जब तक कि उसकी वर्णन शैली रोचक न हो और एक उपन्यास का सा आनन्द न दे। यदि पेटर कवि या चित्रकार के गुणों की आवश्यकता एक समालोचक में अनिवार्य समझता है, तो अनातोले उसे एक उपन्यासकार के रूप में भी देख सकता है।

कार्लायिल ने गेटे वाले निबन्ध में एक न्यायाधीश के दृष्टिकोण को सामने रक्खा है। कार्लायिल कहता है कि:—
"समालोचक एक न्यायाधीश है न कि एक वकील। वह पक्षपात करने के लिये नहीं बैठता है वरन् न्याय करने के लिये जिसमें कि उसकी कई जगह बदनामी होती है और कई जगह प्रशंसा।"

यह तो विचारणीय विषय है कि समालोचक कहाँ तक केवल न्याय करता है । केवल न्याय के समक्ष संसार में कोई टिक नहीं सकता। न्याय करने के साथ साथ जिसगुण की आवश्यकता होती है वह है सहानुभूति। कार्लायिल स्वयं एक सहानुभूति-पूर्ण समालोचक (Sympathetic Critic) था।

सेन्ट्सबरी नामक एक महान् विद्वान् और समालोचक ने एक पंडित (Scholar) के उपयुक्त परिभाषा देते हुए कहा है कि "समालोचना खोजने, जानने, प्रेम करने तथा प्रशंसा करने का प्रयत्न है। यह प्रयत्न केवल सबसे अच्छी वस्तु ही

के लिये नहीं वरन् सब अच्छी वस्तुओं के लिये जो कि संसार में जानी, सोची और लिखी गई हों।"

यह कार्य सेन्ट्सबरी ऐसे प्रकाण्ड पंडित के ही उपयुक्त है जो कि न केवल अंग्रेजी साहित्य का ही विद्वान् था वरन् समस्त यूरोपीय साहित्य का भी अध्ययन कर चुका था। साधारण व्यक्ति के लिये यह लागू नहीं है।

आइ० ए० रिचर्ड्स ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से समालोचना की मीमांसा की है। वह कहता है कि अच्छे समालोचक के तीन गुण हैं। (१) वह कलात्मक कृति के रचयिता की मानसिक दशा के अनुभव करने में समर्थ हो, (२) साधारणतया एक अनुभव का दूसरे अनुभव से अन्तर बता सके; (३) कृति के मूल्याङ्कन में पूर्ण कुशल हो।"

अनुभवों का संसार बहुत विचित्र है। एक अनुभव का दूसरे अनुभव से सामंजस्य अत्यन्त कठिन है। एक कृति के पढ़ने पर प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न भिन्न समयों पर विभिन्न प्रकार के अनुभव होते हैं। इन अनुभवों पर किसी कृति का मूल्याङ्कन करना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। समालोचक का कार्य तब और भी दुस्तर हो जाता है जब कि उसके एक समय के अनुभव से दूसरे समय के अनुभव का संघर्ष होने लगता है। दूसरी बात यह है कि कलाकार की मानसिक अनुभूति एक ही प्रकार की होगी, पर प्रत्येक समालोचक को उसका परिज्ञान विभिन्न प्रकार का होगा।

अतएव यह मनोवैज्ञानिक मीमांसा विभिन्नता में ऐक्य (unity in diversity) न लाकर और भी विभिन्न बना देगी। ऐसी मीमांसा सार्वदेशिक (universal) भी नहीं हो सकती क्योंकि सार्वदेशिक वही हो सकती है जिसकी कि परिभाषा व्यापक हो।

सबसे व्यापक और सर्वमान्य परिभाषा बेसिल वर्सफोल्ड की है जो कहता है कि "कला और साहित्य के क्षेत्र में अपना निर्णय प्रकट करना ही समालोचना है और समालोचक वह व्यक्ति है जो अपने क्षेत्र में आये हुए समस्त कृतियों के मूल्याङ्कन का ज्ञान रखता है और उन पर अपना मत निर्धारित करने की योग्यता भी रखता है।"

यह परिभाषा बहुत ही व्यापक और सर्वमान्य हो सकती है। 'कला और साहित्य के क्षेत्र में अपना निर्णय प्रकट करना।' कितनी व्यापक परिभाषा है। इसमें किसी भी वर्ग के समालोचकों को आपत्ति नहीं हो सकती।

आगे चलकर लेखक कहता है कि 'उत्कृष्टता की तीन विशेषताएँ हैं जो कि प्रत्येक साहित्य की कृति में कुछ विशेष या कम परिमाण में प्राप्त हो सकती हैं। वे हैं विषय (matter) प्रकार (manner) और प्रसन्न करने की शक्ति'; (capacity to please) पाश्चात्य समालोचना की सर्वव्यापक और सर्वमान्य विशेषता इस परिभाषा में विद्यमान है।

पौर्वात्य आचार्यों में न तो समालोचना की ओर किसी का ध्यान ही गया, और न इस शास्त्र का कोई क्रमवद्ध विकास ही हुआ। टीका टिप्पणियों में समालोचना का यत्र-तत्र निर्देश है। व्याकरण धर्मशास्त्र आदि में जहाँ कहीं विवादास्पद अंश हैं उन्हें समालोचना का ही अङ्ग समझना चाहिये। पर यदि कहा जाय कि पश्चात्य देशों की तरह धारारूप में यहाँ कोई क्रमवद्ध विकास हुआ है तो यह धारणा बिलकुल निर्मूल है।

समालोचना की परिभाषाएँ (२) भारतीय

हिन्दी में भी संस्कृत की तरह कोई प्रशंसनीय उद्योग नहीं किये गये। हिन्दी में अब तक एक ही पांडित्य-पूर्ण पुस्तक लिखी गई है और वह है बाबू श्याम-सुन्दर दास का साहित्यालोचन। उसमें समा-लोचना की परिभाषा इस प्रकार दी है:—

समालोचना की परिभाषाएँ (३) हिन्दी

"साहित्य क्षेत्र में ग्रन्थ को पढ़कर उसके गुणों और दोषों का विवेचन करना और उसके सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करना आलोचना कहलाता है।"

यदि यह परिभाषा आधी ही रहती अर्थात गुण दोष विवे-चन तक ही सीमित रहती तो सर्वमान्य नहीं हो सकती थी। गुणदोष विवेचन की शैली प्राचीन और एकाङ्गी है। पर जब उस के बाद अपने मत प्रकट करने का प्रश्न आता है तब परिभाषा

पूर्ण हो जाती है। यह भी उसी तरह की व्यापक परिभाषा है जिस तरह की वर्सफोल्ड की थी।

आगे चलकर बाबू साहब ने इसे और स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि "यदि साहित्य जीवन की व्याख्या है तो समालोचना उस व्याख्या की भी व्याख्या है।"

साहित्यकार यदि जीवन का स्पष्टीकरण करता है तो समालोचक उस स्पष्टीकरण को भी स्पष्ट करता है। एक प्रकार से समालोचक का पद साहित्यकार से भी ऊँचा है।

बाबू साहब के पश्चात् कई विद्वानों ने इस शास्त्र पर लेख आदि लिखे हैं पर न तो कोई ऐसी प्रामाणिक परिभाषा है और न कोई ऐसी प्रामाणिक पुस्तक।

समालोचना की कसौटी

जब साहित्य और समालोचना का पूर्णतःसमन्वय हो चुका तब स्वभावतः यह प्रश्न उठा कि समालोचना की क्या कसौटी है? कौन कौन से ऐसे मूलाधार हैं जिनको लेकर समालोचक साहित्य की आलोचना में प्रवृत्त होता है?

भिन्न भिन्न युग और काल में साहित्य और काव्य की समालोचकों ने भिन्न भिन्न कसौटी रक्खी है। हम पहले कह चुके हैं कि मनुष्य की विचारधारा ही साहित्य में लिपिबद्ध होती है। समालोचना साहित्य का अनुसरण करती है। जब साहित्य लिपिबद्ध होने वाली विचारधारा में परिवर्तन होने लगता

है तब स्वभावतः उस विचारधारा के मापदंड-रूप सुन्दर या असुन्दर समालोचना में भी परिवर्तन होने लगता है। जैसे जैसे साहित्य बदलता जाता है, वैसे वैसे उसकी कसौटी भी बदलती जाती है।

भारतीय साहित्य में सत्काव्य की कसौटी के परखने वालों के भिन्न भिन्न दल हैं।

काव्य-प्रकाशकार मम्मट का कहना है कि "काव्य वही है जो कि दोषरहित, गुणयुक्त शब्द और अर्थ से युक्त हो, और कहीं कहीं अलंकार से रहित भी हो।"*

यह कसौटी कुछ अस्पष्ट सी मालुम होती है। पर वास्तव में यह सब तरह की, और सब युगों की आवश्यकताओं से पूर्ण है। चाहे किसी भी युग की या देश की कविता हो उसका दोष-रहित होना अत्यन्त आवश्यक है। उसके साथ ही गुणों का आधिक्य भी वांछनीय है। फिर कहीं यदि बाह्य अलंकारों से युक्त न हो तो कोई हर्ज नहीं। कितनी पूर्ण परिभाषा है। यही कारण है कि इतने समय के बाद भी मम्मट का महत्व भारतीय साहित्य से हटा नहीं है।

वामन ने रीति ही को काव्य की आत्मा माना है।† रीति या शैली ही काव्य में सब कुछ है। मानों कहा कुछ न जाय

---

* तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि—मम्मट

† रीतिरात्मा काव्यस्य—वामन

पर कहने का ढंग अच्छा होना चाहिये। उर्दू साहित्य में इस ओर काफी महत्व दिया जाता है। पर यह परिभाषा एकाङ्गी है। जिस काव्य में कोई सन्देश नहीं है और ढङ्ग ही के कारण प्रसिद्ध है, वह कितने दिन तक टिक सकती है।

ध्वनिकार के कथानानुसार "काव्य की आत्मा ध्वनि है।"* जिस काव्य से कोई ध्वनि (Suggestion) निकलती हो वही सार्थक है। इसमें काव्य के आन्तरिक गुण को छोड़कर वाह्य प्रभाव पर अधिक ध्यान दिया गया है।

भामह का कहना है कि काव्य में अलंकार ही सब कुछ है। यदि अलङ्कार न हो तो काव्य में कोई सौन्दर्य ही नहीं। काव्य के वाह्य सौन्दर्य को अधिक महत्व दिया गया है। इस मत के मानने वालों में उद्भट, रुद्रट आदि आते हैं।

कुन्तक एक पग और आगे बढ़ गये। उनका कथन है कि वक्रोक्ति ही काव्य का जीवन है†। वक्रोक्ति के दो अर्थ होते हैं, एक तो टेढ़ी उक्ति, दूसरे वक्रोक्ति, एक अलङ्कार भी होता है। दोनों अर्थों में परिभाषा बहुत सङ्कुचित है।

पंडितराज जगन्नाथ का कहना है कि "रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द ही काव्य हैं‡" शब्दों का महत्व बिलकुल

---

* काव्यस्यात्माध्वनिः।

† वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्।

‡ रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दं काव्यम्—पंडितराज जगन्नाथ

घट गया है। वे एक प्रतीक (Symobl) मात्र है । उनका केवल कार्य है कि वे रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करें।

साहित्यदर्पणकार पंडित विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि "रसात्मक वाक्य का ही नाम काव्य है।"* रसपूर्ण वाक्य जिसमें हों वही काव्य है । उनकी दृष्टि में नीरसकाव्य हो ही नहीं सकता।

उपर्युक्त सब परिभाषाओं में पहिली परिभाषा सर्वाङ्गपूर्ण है और यही कसौटी व्यापक भी है।

जिस प्रकार अर्थ में भिन्न भिन्न कसौटी स्थापित की गई हैं उसी प्रकार भाषा में भी। एक समय संस्कृत भाषा संस्कृत (cul.ur d) जनसमुदाय की समझी जाती थी और प्राकृत अपढ़ और गँवारों की। पर बुद्धदेव ने गँवारों की भाषा में उपदेश देने में ही अपना गौरव समझा।

यही हाल हिन्दी का भी है। अभी तक ब्रजभाषा के ऐसे हिमायती पड़े हुए हैं कि उनकी दृष्टि में ब्रजभाषा ही काव्य के लिये उपयुक्त है। पर आजकल अधिकतर कविता खड़ी बोली में हुआ करती है।

भावना क्षेत्र में भी हिन्दी में बहुत से परिवर्तन हुए हैं। कितने ही प्राचीन रूढ़िगत भाव-धाराओं के प्रति एक आवाज़, एक क्रान्ति उठी है; छायावाद, रहस्यवाद, प्रतीकवाद, हालावाद, आदि कितने ही नये नये वाद उठ खड़े हुए हैं।

---

* वाक्य रसात्मकं काव्यम्—विश्वनाथ।

इस प्रकार समय समय पर समालोचकों ने भिन्न भिन्न भाषाओं, भावनाओं और वादों की कसौटी निर्धारित कर रक्खी है।

पाश्चात्य साहित्य में समालोचना के कुछ मूल सिद्धान्त (standards) थे। वहाँ भी साहित्य या काव्य के लिये कोई न कोई कसौटी आवश्यक समझी जाती थी।

यूरोप के सर्वप्रथम दार्शनिक और आदर्शवादी (Idealist) प्लेटो (Plato) का कहना था, कि साहित्य सुधार की वस्तु है। साहित्य का उद्देश मनुष्य जीवन को सुधारना है। इसीलिये उसका आधार अनुकरणमूलक है। जब साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब या अनुकरण-मात्र है तब समालोचक के लिये अनुकरण ही* उसकी कसौटी है।

अरस्तू (Aristotle) ने अनुकरणवाद का बहुत खंडन किया। उसका मत था कि साहित्य के लिये दो ही वस्तुएँ आवश्यक हैं—एक तो रचना और दूसरे वास्तविकता को संभाव्य (Ideal) में परिणत कर देना। प्रतिबिम्बवत् अनुकरण (photographic imitation) असंभव और अवांछनीय दोनों है। इसलिये यह आवश्यक है कि हमारे जीवन के जो कटु अनुभव हैं उन्हें हम साहित्य में सुन्दर बनाने की कोशिश करें।

---

* Imitation

होरेस का कथन था कि सच्चे साहित्य की कसौटी आनन्द और उपदेश है। जो वस्तु जितना ही आनन्द देगी और जिससे जितना ही अधिक उपदेश निकलेगा वह साहित्य के लिये उतनी ही महत्वपूर्ण होगी। इसमें साहित्य के प्रभाव पर अधिक ध्यान दिया गया है।

ड्राइडन का सिद्धान्त था कि प्रकृति के साथ समन्वय ही साहित्य की कसौटी है। एक प्रकार से यह ठीक भी है क्योंकि साहित्य में प्रकृति का ही चित्र अंकित किया जाता है।

ड्राइडन के पश्चात् यूरोपीय साहित्य क्षेत्र में युग परिवर्तन हुआ। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का यह परिणाम हुआ कि जिस वस्तु में किसी प्रकार का आकर्षण या रोमान्स न हो उसका कोई मूल्य ही नहीं था।

ऐसे समय में यदि वर्ड्सवर्थ यह कहता कि साहित्य की कसौटी "भावनाओं का स्वतन्त्र प्रवाह" ही है तो कोई अत्युक्ति की बात नहीं।

कोलरिज ने कविता की कसौटी, सुन्दर ढङ्ग से सुन्दर शब्दों की रचना ही मानी है। यह भी परिभाषा बड़े महत्व की है जिसका तात्पर्य रचना सौष्टव से है।

आर्नल्ड ने काव्य को जीवन की व्याख्या* कहा है और इस परिभाषा में वह अरस्तू की श्रेणी में है।

---

*A Criticism of life

रस्किन साहित्य में नैतिकता के महत्व को चाहता था। उसका दृष्टिकोण एक सन्त के उपयुक्त था।

गाटियर ने यह सिद्धान्त रखा कि कला का उद्देश्य कला की सृष्टि है* । इस वाद का यहाँ तक परिणाम हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम पचीस वर्षों के साहित्य में अश्लील से अश्लील प्रसङ्गों का वर्णन श्रेयस्कर समझा जाता था।

टालस्टाय का कहना इसके विपरीत था। साहित्य या कला का उद्देश जीवन के सुधार के लिये है† ।

इस प्रकार भिन्न भिन्न युगों में समालोचना की भिन्न भिन्न कसौटी थी।

समालोचना कोई कला है या विज्ञान ? किला वह है जिसमें
कोई उपयोगिता (utility) अन्तर्हित हो।
समालोचना कला विज्ञान एक युक्तियुक्तपूर्ण व्याख्या है। विज्ञान
है या विज्ञान के नियम बिलकुल ठीक और सतर्क हुआ
करते हैं। कला के नियम अनिश्चित और
ढीले (Elastic) होते हैं।

इस दृष्टि से तो समालोचना एक विज्ञान है कि इसके नियम होते हैं। पर यदि कहा जाय कि एक प्रकार के नियम सदा के लिये लागू रहते हैं, तो ठीक नहीं। समय समय पर

---

* Art for' arts sake

† Art for life's sake

समालोचना की कसौटी बदली जाती है और साथ ही साथ नियम भी बदलते हैं। समालोचना कला भी है क्योंकि इसकी उपयोगिता बहुत अधिक है। इसके द्वारा साहित्य ठीक मार्ग पर लाया जा सकता है। इस तरह समालोचना दोनो है, कला भी और विज्ञान भी।

समालोचना में सत्य का स्थान

अब यह प्रश्न उठता है कि समालोचना में सत्य का कोई स्थान भी है? सत्य शब्द बहुत ही व्यापक और विवाद ग्रस्त है। जो वस्तु हमारे लिये असत्य है वह दूसरे के लिये सत्य हो सकती है?

सत्य के तीन अर्थ होते हैं। (१) वैज्ञानिक अर्थ—वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य का अर्थ निर्दिष्ट वस्तुओं की सत्यता है। वस्तुओं का अंस्तित्व सत्य है।

(२ सर्वमान्य या सम्भाव्य सत्य (acceptability)-किसी वस्तु की सत्यता जो कि विद्यमान न हो पर संभव अवश्य हो।

(३) कलाकार की सत्यता (sincerity)-उन भावनाओं का प्रभाव अपने पाठकों पर डाले जिनको वह स्वयं अनुभव करता हो।

समालोचक का सत्य तीसरे प्रकार का सत्य है। वह उन्हीं बातों को पाठकों के सामने लाता है जिनको वह स्वयं अनुभव करता है।

समालोचना के गुण

संस्कृत में एक श्लोक है जिसमें यह दिया हुआ है कि समालोचक के क्या क्या गुण होने चाहिये।*

उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—प्रत्येक रचना की इन सात वस्तुओं का ज्ञान समालोचक के लिये परमावश्यक है। इन वस्तुओं का जब उसे पूर्ण ज्ञान हो जायेगा तब वह किसी भी रचना की अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परीक्षा करने में समर्थ हो सकेगा।

अंग्रेजी में पोप (Pope) ने समालोचनाशास्त्र पर एक पद्यबद्ध निवन्ध लिखा है। उसमें समालोचक के लिये कुछ आवश्यक बातें लिखी हैं। वह कहता है:—

सर्वप्रथम प्रकृति का अनुसरण करो, क्योंकि प्रकृति का चित्र साहित्य में प्रतिबिम्बित है। इसके पश्चात् अहंकाररहित होकर नैतिक और आध्यात्मिक बातों पर विचार करो।

समालोचक के लिये सबसे प्रथम आवश्यक गुण यह है कि वह जिसकी समालोचना करता है उससे उसकी पूर्ण सहानुभूति (Sympathy) हो। मानवोचित आलोचना का परिचय इसी में मिल जायगा। ऐसे ही अनुदार समालोचकों के कारण कीट्स (Keats) की मृत्यु हुई थी।

---

*उपक्रमोपसंहारौ अभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्तीच लिंगं तात्पर्यनिर्णये॥

दूसरा आवश्यक गुण यह है कि जिस वस्तु की वह आलोचना करता है उसके सम्बन्ध में उसकी पूर्ण जानकारी हो। इसके अतिरिक्त भी उसकी विद्वत्ता गम्भीर हो।

तीसरी आवश्यकता समालोचक के निष्पक्ष और निर्भय होने की है। समालोचक का काम बड़े ही महत्व का है। उसे अपने वैयक्तिक बातों के समावेश करने का कोई अधिकार नहीं। उसे केवल अपने स्वतन्त्र विचार निर्भय होकर जनता के सामने रखने चाहिये।

चौथी बात जो कि इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है वह यह है कि जो कुछ भी कहा जाय वह व्यक्ति पर न होकर उसकी रचना पर हो। समालोचना में वैयक्तिक बातों के लिये कोई स्थान नहीं।

पाँचवीं बात भाषासंयम रखने की है। पंडित पद्मसिंह शर्मा ने विद्या-वारिधि जी को सतसई में ऐसा लथेड़ा है कि कुछ कहते नहीं बनता। इस तरह की भाषा का प्रयोग अशिष्ट और अनुचित है।

छठी आवश्यकता देशकाल भेद के जानने की है। जब तक कि समालोचक को इसका ज्ञान न होगा तब तक वह कभी भी उचित समीक्षा करने में सफल न हो सकेगा।

समालोचना के दोष

जहाँ समालोचक में कुछ गुण हैं वहाँ कुछ दोष भी हैं जिनको निवारण करना उसके लिये परमावश्यक है।

समालोचक को चाहिये कि वह सबसे पहले अहंकार और मद का परित्याग करे और तब ऐसे कार्य में प्रवृत्त हो। दूसरे वह अपनी अल्पज्ञता को दूर करने का प्रयत्न करे। तीसरे दुर्भावना का परित्याग करे। यदि इन बातों का ध्यान रहेगा तो समालोचक को बहुत शीघ्र सफलता उपलब्ध हो सकती है।

समालोचना के भेद का तात्पर्य है कि समालोचना पद्धतियाँ कितने प्रकार की होती हैं ? जब समालोच्य विषय में असंख्य भेदों की संभावना है तब समालोचना शैली विभिन्न प्रकार की क्यों न हो। समालोचना के निम्नलिखित भेद हैं:—

समालोचना के विभिन्न भेद

निर्णयात्मक (Judicial) आलोचना—जिस वस्तु में निर्णय करने का अवकाश हो वही निर्णयात्मक वस्तु है। निर्णयात्मक आलोचना में आलोचना करते समय कुछ स्थिर और सदामान्य सिद्धान्त सामने रख लिये जाते हैं और उन्हीं के द्वारा आलोचना की जाती है। आलोच्य विषय एक कसौटी पर रक्खी जाती है और यदि ठीक उतरी तो ठीक ही है और नहीं तो उसका दोषप्रदर्शनपूर्ण विवेचन होता है। इसमें आलोचक का स्थान बड़े महत्व का होता है। वह एक निर्णायक की तरह हमारे सामने आता है और उचित-अनुचित, गुण-दोष दोनों

१ निर्णयात्मक आलोचना

का प्रदर्शन करता है। ऐसा समालोचक यदि कभी पक्षपात पूर्ण हुआ तो सर्वनाश ही समझना चाहिये।

इस शैली में सबसे बड़ा दोष यह है कि समालोचक कला की उन्नति को नहीं मानता। भिन्न भिन्न समय पर कला में जो परिवर्तन होते हैं उनको यह भूल जाता है और एक ही तराजू पर सब प्रकार का साहित्य तौलता है।

दूसरे निर्णयात्मक समालोचक आतंकवाद और रूढ़िवाद का पोषक हो जाता है। जो बातें अरस्तू या मम्मट ने कही थीं वही अब भी उसके लिये माननीय हैं।

इस श्रेणी के समालोचक राइमर (Rhymer) वाल्टेयर (Voltaire) आदि हुए हैं।

आधुनिक युग में इस शैली में काफी परिवर्तन हुए हैं। मानो-विज्ञान का प्रभाव ही इसमें सहायक हुआ। अब कलाकार के व्यक्तित्व का भी साथ ही साथ ख्याल किया जाता है।

वैज्ञानिक या तार्किक समालोचना, (Scientificor Inductive)—वैज्ञानिक समालोचना व्याख्यात्मक होती है। इसमें तर्कशास्त्र के सिद्धान्त लागू होते हैं। वैज्ञानिक समालोचक पहले विषय का ज्ञान कराता है, उसका वर्गीकरण करता है. और उदाहरणों से उसकी पुष्टि करता है। तब अपना एक निष्कर्ष निकालता है। निर्णयात्मक आलोचक की तरह कोई सिद्धान्त अपने

(२) वैज्ञानिक आलोचना

सामने नहीं रखता । वैज्ञानिक आलोचक के लिये कोई कसौटी की आवश्यकता नहीं । विषय विवेचन ही उसकी सच्ची कसौटी है । यह उचित भी है । विज्ञान प्राकृतिक नियमों का अनुसंधान करता है, और उसके बाद उसके मूलतत्वों को खोज निकालता है । प्रकृति का ही चित्रण साहित्य में है । अतएव साहित्य में भी वैज्ञानिक अन्वेषण वांछनीय है ।

इस शैली में कभी कभी ग़लत निष्कर्ष पर पहुँचने की भी संभावना रहती है । साहित्य के सिद्धान्त वैज्ञानिक सिद्धान्तों की तरह कड़े नहीं होते अतएव यह सम्भव है कि गवेषणा का परिणाम कभी कभी उलटा हो जाय ।

(३) रचनात्मक समालोचना

रचनात्मक समालोचना (Creative criticism) रचनात्मक समालोचना में कलाकार के आन्तरिक मनोवृत्तियों का ज्ञान होता है । जो परिश्रम कलाकार अपनी कला की सृष्टि में करता है वही या उससे अधिक उस कला के ज्ञान में रचनात्मक समालोचक करता है । कलाकार क्या करता है ? जीवन और प्रकृति का निरीक्षण करता; उसका मनन करता; उससे प्रभावित होता; उसके हृदय में भावनाएँ जागृत हो उठतीं; उन भावनाओं को बाहर लाने की इच्छा होती और वह उनको बाहर प्रदर्शित कर देता । कलाकार को कला निर्माण में इन सब बातों का ख्याल करना पड़ता है । यही-सब कार्य समालोचक भी करता है । पर अपने दृष्टिकोण से । अतएव वह कलाकार का

अनुकरण नहीं करता। वह केवल निरीक्षण करता है और अपने मार्ग पर चलता है।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि आलोचना एक कला है। कला के रचना के ढंग की जिसकी रचना हो वह और क्या हो सकती है ?

ऐतिहासिक समालोचना (Historical criticism)—किसी विषय की ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना करना ऐतिहासिक समालोचना कहलाता है। कलाकार अपने समय का प्रतिनिधि होता है। यह स्वाभाविक है कि उस समय के रहन सहन, वातावरण, विचारधारा आदि का उस पर असर पड़े। उसकी कला उसका एक चित्र खींचती है। अतएव समालोचक के लिये भी यह आवश्यक हो जाता है कि उस समय के सामाजिक राजनैतिक, धार्मिक आदि परिस्थतियों का अध्ययन करे, उसका पूर्ण इतिहास जाने।

(४) ऐतिहासिक समालोचना

किसी समय की भावधारा तीन प्रकार से कलाकार में प्रविष्ट होती है (१) जातिगत-जाति (race) का प्रभाव पड़ता है। (२) वातावरण (atmosphere) को भी उसे चित्रित करना पड़ता है (३) उस समय के उन क्षणों का भी उल्लेख करना पड़ता है (epoch)। इन तीनों का ध्यान जब रहे तब एक सफल ऐतिहासिक समालोचक हो सकता है। टेन (Taine) इसी कोटि का आलोचक था।

(७) मनोवैज्ञानिक समालोचना

मनोवैज्ञानिक समालोचना (psychological criticism)–ज्यों ज्यों मनोविज्ञान की उन्नति होती गई त्यों त्यों इसकी सहायता से बहुत से तथ्यों की खोज होने लगी। मनोविज्ञान केवल एक पाठ्य विषय न रहकर एक सहायक विषय भी हो गया।

मनोवैज्ञानिक समालोचक कला का अध्ययन तब तक पूर्ण नहीं समझता जब तक वह कलाकार का पूर्ण अध्ययन न करले। जब कला कलाकार के मानसिक प्रवृत्तियों का ही प्रतिबिम्ब मात्र है तब क्यों न मूल स्रोत की खोज की जाय? जब मूल का परिज्ञान हो जायगा तब शाखाओं के समझने में कितनी देर लगेगी। अतएव इस प्रणाली में कलाकार के अध्ययन में ही उसके कलाका अध्ययन हो जाता है। डाउडन (Dowdon) का शेक्सपियर का अध्ययन* इसी प्रकार का है।

पर जहाँ कलाकार अपनी कला में आत्मचित्रण नहीं करता वहाँ वह असफल हो जायगा।

(९) तुलनात्मक समालोचना

तुलनात्मक समालोचना (Comparative criticism)–तुलनात्मक समालोचक कलाकारों के वर्गीकरण पर विश्वास करता है। उसकी दृष्टि एक दूसरे की समता या भिन्नता दिखाने की ओर रहती है। वह दो व्यक्तियों को, या दो साहित्यों को लेता है। उनके भावधारा और शब्दसृष्टि की तुलना करता है

---

* Shakespeare's Mind and Art

और अन्त में यह निर्धारित करता है—कि एक दूसरे से कितना बड़ा या छोटा है।

इसके परिणाम में यहाँ तक हुआ है कि लोगों ने कलाकारों के शब्द तक गिन डाले हैं। शेक्सपियर ने १५००० शब्द प्रयुक्त किये और मिल्टन ने केवल ८००० शब्द। हिन्दी में देव बिहारी पर बहुत सी तुलनात्मक पुस्तकें लिखी गई हैं। पर ध्यान इस बात का रहे कि कहीं द्वेषपूर्ण आलोचना न हो जाय।

यद्यपि उपर्युक्त शैलियों में सम्पूर्ण समालोचना-शास्त्र का समावेश तो नहीं है पर मुख्य मुख्य पद्धतियों का तो उल्लेख हो गया है।

आधुनिक समालोचना के महत्व को सब से पहले गेटे (Geo the) ने समझा था जिसका कि कहना था कि "समालोचक का सब से पहला और प्रधान कर्तव्य कवि के वास्तविक उद्देश को समझना, उस उद्देश के महत्व को स्वीकार करना; और यह देखना कि प्राप्त सामग्री का कहाँ तक सदुपयोग किया गया है।"

आधुनिक समालोचना

समालोचना की किसी आधुनिक लेखक ने परिभाषा देते हुए कहा है कि "समालोचना एक व्यक्ति का, एक समूह की विचारधारा को, अपने अनुकूल बदलने का प्रयत्न है।"

आधुनिक समालोचक किसी कृति का मूल्याङ्कन नहीं करता वरन् केवल अपना मत प्रकट करता है। इस मत के प्रदर्शन में

उसने सारे रूढ़िबद्ध नियमों को तोड़ दिया, साहित्य के क्रमागत भेद अस्पष्ट शब्दाडम्बर, शैली, धर्मज्ञान, नैतिक विचार, जाति, काल, वातावरण का अध्ययन, साहित्य के विकास आदि के बन्धनों का परित्याग कर दिया। वह अध्ययन करता है पर बिना किसी बन्धन के, बिना किसी नियम के। अपने ज्ञान के अनुसार वह केवल कृतियों की नहीं तुलना करता वरन् लेखकों की तथा विश्व के विभिन्न साहित्यों की। उसके सिद्धान्त स्वतः के हैं। वैयक्तिकता (Individuality) का उस पर काफी प्रभाव पड़ा है। उसका कथन है कि समालोचक अपने विचारों में स्वतन्त्र है। उसकी एक सत्ता अलग है। उसे न नियम बाँध सकते हैं, न बन्धन। वह केवल अपने स्वतन्त्र विचारों को निर्भीक होकर प्रकट करता है।

साधारणतया आधुनिक समालोचना का वर्गीकरण तीन भेदों में किया जा सकता है:—

(१) कृतिमूलक आलोचना (Technical criticisn) आलोचक कृति की छानबीन करता है। वह उसमें आये हुए कठिन अंशों को समझाता है; पुस्तक की गलतियों को निकालता है और काल आदि के उल्लंघनों को ठीक करता है। समालोचक केवल पुस्तक की ऊपरी खोज करने के अतिरिक्त तह तक नहीं पहुँच सकता। उसका मतलब केवल इसी बात से है—कि पुस्तक कब लिखी गई ? कब प्रकाशित हुई ? लेखक कौन था ? उसका

कृतिमूलक आलोचना

समय कब निश्चित होता है ? इन सब वाह्य अङ्गों पर वह ध्यान देता है। इस श्रेणी के बहुत से आलोचक हैं। शेक्सपियर पर इस प्रकार की बहुत सी पुस्तकें लिखी गई हैं। ओझा जी का चन्दबरदायी के समय-निर्णय का लेख और उसी पर बाबू श्यामसुन्दर दास का भी लेख इस श्रेणी की आलोचना है।

(२) प्रभावाभिव्यंजक समालोचना (Impressionistic criticism) इस श्रेणी का आलोचक किसी कृति की कुछ बातों से प्रभावित होता है और उन्हीं को वह व्यक्त करता है। उसका कथन है कि "मेरा आनन्द स्वयं ही एक प्रकार का फैसला है। दूसरे लोग दूसरे प्रकार का आनन्द पाते हैं और व्यक्त करते हैं; उनको भी इस बात का अधिकार है। इस प्रकार हम दोनों कलापूर्ण रचना या आलोचनाकला की सृष्टि करेंगे। सारे समालोचना का उद्देश कला से हट कर उसकी जगह पर कुछ और वस्तु रखना है। मैं अपने को उस जगह पर रखता हूँ।"

प्रभावाभिव्यंजक समालोचना

इसमें समालोचक सौंदर्य का उपासक हो जाता है। जिस वस्तु से वह प्रभावित होगा उसी की प्रशंसा करेगा। इसी प्रकार के समालोचकों के ही बाहुल्य के कारण यूरोप में प्रतीकवाद (Symbolism) अभिव्यञ्जनावाद (Impressionism) छायावाद (Mysticism) आदि वादों का महत्व दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है।

(३) पत्र सम्बन्धी समालोचना (gourna listic criticism) आज कल की प्राय: अधिकतर समालोचनाएँ पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ करती हैं। इस श्रेणी में पुस्तकों पर की सम्मति (Review) भी समझी जाती है। पर यदि एक सम्मति दाता यह कह दे कि "अमुक उपन्यास सबसे खराब है" तो समालोचना नहीं हो जाती। इसी को जब युक्तियों से प्रमाणित करेगा तब जाकर समालोचना कहलायेगी। रिव्यू का अन्तर्भाव इस प्रकार की पत्र सम्बन्धी समालोचना में हो जाता है।

पत्र सम्बन्धी समालोचना

वर्तमान समाचार पत्र, साप्ताहिक और मासिक पत्र इस प्रकार की आलोचनाओं से भरे पड़े हैं। पर इसका मूल्य-क्षणस्थायी होता है।

अंग्रेजी के एक बड़े समालोचक ने आधुनिक समालोचना साहित्य के अन्तर्गत विषयों का वर्णन करते हुए कहा है कि:—

"A few conjectures, a supply of admonitions, many acute isolated observations, some brilliant guesses, much oratory and applied poetry, inexhaustible confusion, a sufficiency of dogma, no small stock of prejudices, whimsies and crotchets, a prfusion of mysticism, a little genuine speculation, sundry stray inspirations, pregnant hints, and random apercus, of such as these it may be said without exaggeration is extant cnitical theory composed."



भाव यह है कि आधुनिक समालोचना कुछ कल्पना, कुछ वास्तविकता, बहुत सा शब्दजाल, अधिकतर अन्धविश्वास, मन की लहरें, छायावाद का अधिक और बहुत कुछ स्वतन्त्र विचारों की ही समष्टि है।

आधुनिक समालोचक का कोई निर्दिष्ट पथ नहीं है। "भिन्न रुचिर्हि लोकाः" के अनुसार उसके विचार स्वतन्त्र हैं।

"शत्रोरपि गुणावाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि"—इन पंक्तियों से सत्समालोचक का कर्तव्य स्पष्ट हो जाता है। उसको शत्रु

सत्समालोचक का कर्तव्य

के भी गुणगान करने चाहिये और मित्र के भी दोष बतलाने चाहिये। यह किसी महान् पुरुष के ही लिये संभव है। साधारण व्यक्ति के लिये व्यक्तिगत प्रभावों (Personal impressions) से ऊपर उठना बहुत कठिन हो जाता है। पर हाँ, यथायोग्य उसे अपना कर्तव्य निवाहना परमावश्यक है।

इसके अतिरिक्त उसमें 'नीर-क्षीर विवेक' भी जरूरी है। जब तक इस बुद्धि का अभाव रहेगा तब तक वह सत्समालोचक के उच्च आसन पर नहीं बैठ सकेगा।

सारांश यह कि सत्समालोचक सत् या सत्य की मीमांसा करे, असत् की नहीं।

संस्कृत साहित्य में समालोचना के साहित्य का एक प्रकार से अभाव ही है। यदि किसी रूप में विद्यमान है तो वह टीकाओं

में तथा भाष्य आदि में। समालोचना को संस्कृत साहित्यकारों ने कोई स्वतन्त्र शास्त्र नहीं माना है। यही कारण है कि साहित्य और काव्य के विविध अङ्गों पर ग्रन्थ बनें पर समालोचना शात्र पर अभी तक कोई ग्रन्थ न बन सका।

संस्कृत सहित्य में समालोचना

हिन्दी में समालोचना की ओर सबसे प्रथम कविवर दास ने ध्यान दिया। समालोचना का विधिवत् सूत्रपात पं० बदरी नारायण जी चौधरी ने किया, जिन्होंने लाला श्री निवास दास के "संयोगिता स्वयम्वर" की कादम्बिनी के २१ पृष्ठों में बड़ी विस्तृत और कठोर समालोचना निकाली थी।

हिन्दी में समालोचना सहित्य का विकास

पंडित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने गुण दोष पूर्ण समालोचना पद्धति निकाली। इन्होंने संस्कृत के ग्रन्थों को लिया और उसमें कवि की बड़ी बारीकी के साथ विशद आलोचना की है, "विक्रमांकदेवचरितचर्चा" "नैषधचरितचर्चा", और 'कालिदास की निरंकुशता' इसी श्रेणी की समालोचना की पुस्तकें हैं। इनमें भाषा और व्याकरण की त्रुटियों पर ध्यान दिया गया है। हिन्दी लेखकों और कवियों की समालोचनाओं में भी द्विवेदी जी इस बात पर ध्यान रखते थे।

एक प्रकार से मिश्र बन्धुओं से ही "हिन्दी-साहित्य की आलोचना" का आरंभ होता है। आपके 'हिन्दी नवरत्न' और मिश्रबन्धुविनोद सबसे प्रारंभिक ग्रन्थ हैं आपकी आलोचना

शैली आपही के शब्दों में स्पष्ट है जिसमें समालोचना के महत्व को प्रकट किया गया है:—

"किन्तु समालोचना लिखना भी कोई साधारण काम नहीं है। वही मनुष्य समालोचना लिख सकता है जो ग्रंथों को भली भाँति समझ सके, और उनके विषयों से अच्छी जानकारी तथा सहृदयता रखता हो। इस योग्यता और सहृदयता के अतिरिक्त समालोचक को मूलग्रन्थ का भलीभाँति अध्ययन तथा मनन करने में यथेष्ट समय भी देना पड़ेगा। अच्छे विद्वान के सिवा कोई साधारण मनुष्य समालोचक नहीं हो सकता।"

समालोचना साहित्य के प्रारंभिक निर्माताओं में आपका सदा ऊँचा स्थान रहेगा।

आपने एक और समालोचना पद्धति चलाई, जिसे कि हम तुलनात्मक समालोचना कह सकते हैं। आपने तो अपने नवरत्न में देव को यथोचित महत्व दिया। पर परिणाम में देव बिहारी पर एक बहुत बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ।

इस विवाद को लेकर पंडित पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी सतसई पर एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी, जिस पर कि मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त हो चुका है। इससे बिहारी की तुलना बड़ी विद्वत्ता के साथ संस्कृत की गाथा-सप्तशती तथा आर्यासप्तशती से की गई है। आलोचना विद्वत्तापूर्ण है पर महत्व और भी बढ़ जाता यदि कहीं कहीं उर्दू के तर्ज पर कोरी वाहवाही न होती। पंडित जी ने सतसई के

१४ वें पृष्ठ में समालोचना की बड़ी अच्छी विवेचना की है। वे कहते हैं:—

"अंग्रेजी साहित्य में सुना है तुलनात्मक समालोचना को बहुत महत्व दिया जाता है। इस विषय पर उसमें बड़े बड़े गौरव पूर्ण आदर्श ग्रन्थ लिखे गये हैं। संस्कृत साहित्य में भी इस रीति का प्राचीन आचार्यों ने अपने खास ढंग पर अच्छा पारिष्कार किया है। उर्दू साहित्य में मौलाना आजाद अपने 'आबेहयात' और 'सखुनदाने फारिस' में और हाली 'दीवाने हाली के मुकद्दमें', 'हयाते सादी' और 'यादगारे गालिब' में इस रास्ते की दागवेल डाल गये हैं और अब वहाँ यह रास्ता चल पड़ा है, पर हमारी हिन्दी में यह मार्ग अभी नहीं खुला। हिन्दी साहित्य में जहाँ तक मालूम है इस शैली पर अभी तक कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया। हिन्दी में भी यह रीति प्रचलित होनी चाहिये। इसकी आवश्यकता है, यही समझकर इस विषम मार्ग में चलने की चेष्टा की गई है।"

शर्मा जी के दिल की मुराद पूरी हुई। उनके आवश्यकता की पूर्ति पंडित कृष्णविहारी मिश्र ने की। आप 'देव और विहारी, को लेकर मैदान में आये। बड़ी शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ आपने देव और विहारी की उक्तियों की तुलना की है और यह सिद्ध किया है कि देव विहारी से कहीं ऊँचे थे। आपने तुलनात्मक आलोचना की परिभाषा भी की है आप कहते हैं:—

"कविता की जो परीक्षा एक या अनेक कवियों की उक्तियों की तुलना करके की जाती है उसी को तुलनात्मक समालोचना कहते हैं।"

इस पुस्तक के उत्तर में लाला भगवान दीन ने 'बिहारी और देव' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इसमें लालाजी ने सच्ची समालोचना का दावा किया है।

तुलनात्मक आलोचना की धारा बहुत दिन तक प्रवाहित न हो सकी। पंडित रामचन्द्र शुक्ल के आते ही समीक्षा शैली ही बदल गई। आपने यूरोपीय और भारतीय दोनों साहित्यों का अध्ययन किया और दोनों का समन्वय दिखा कर हमारे साहित्य को गौरवान्वित किया। आपने समीक्षाशैली बिलकुल बदल दी। केवल गुण-दोष प्रदर्शन के बदले आपने कवियों की विशेषताओं और अन्त:प्रवृत्तियों की छानबीन की। आपकी सूर, तुलसी, और जायसी की भूमिकाएँ हिन्दी-साहित्य में सदा के लिये स्थान पा चुकी हैं। आपने कवियों की निष्पक्षतापूर्ण समालोचना कर उनको यथोचित स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त आपने रहस्यवाद के तथ्य को समझाने के लिये 'काव्य में रहस्यवाद' नामक एक आकर ग्रन्थ की भी रचना की है। आप मैथ्यू आर्नल्ड के सिद्धान्त के पोषक हैं कि समालोचना निष्पक्षतापूर्ण होनी चाहिये।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने तुलसीदास और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर दो गवेषणापूर्ण आलोचनाएँ लिखी हैं। इसमें बहुत सी

पुस्तक सम्बन्धी Technical criticism आलोचना है। आपकी 'कबीर ग्रन्थावली' की भूमिका भी बहुत सुन्दर है। आपने 'साहित्यालोचन' नामक एक सिद्धान्त ग्रन्थ भी लिखा है। इस ग्रन्थ के जोड़ का अभी तक कोई ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुआ। हिन्दी-भाषा और साहित्य की विशेषताओं और कला की परिस्थितियों का दिग्दर्शन 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' में किया गया है।

बख्शी जी ने 'विश्वसाहित्य' और 'हिन्दी साहित्य विमर्श' नामक दो आलोचना पुस्तकें लिखीं। इनमें समालोचना का दृष्टि-कोण एकदेशीय न होकर सार्वभौम है। आपका कहना है कि किसी ग्रन्थ का महत्व पाठकों की संख्या पर ही अवलम्बित है। 'समालोचना रहस्य' नामक निबन्ध में आपने समालोचना के लिये उपयोगितावाद के प्रयोग को ही कसौटी मानी है। आप कहते हैं—

"अब हम साहित्य की परीक्षा के लिये उपयोगिता-वाद का प्रयोग करते हैं। जो ग्रन्थ अधिकांश मनुष्यों को अधिकतम सुख दे वही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त के अनुसार हम कह सकते हैं कि हिन्दी में रामचरित-मानस सब से अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि उससे अधिकांश लोगों को सब से अधिक सुख मिलता है।"

हरिऔध जी ने कबीर की भूमिका लिखी और पटना व्याख्यान माला में हिन्दी भाषा और साहित्य का एक सिंहावलो-कन (survey) किया है। इनमें बहुत से आलोचनात्मक अंश है।

हिन्दी गद्य लेखकों की शैलियों पर भी लेखकों ने ध्यान दिया। एक तो पण्डित रमाकान्त त्रिपाठी ने 'हिन्दी गद्य मीमांसा' लिखी, दूसरे पं० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने 'हिन्दी गद्य शैली का विकास' लिखा। दोनों ने गद्य साहित्य पर काफी प्रकाश डाला है। इस प्रकार की पुस्तकों पर विकासवाद (Theory of evolution) का समुचित प्रभाव पड़ा है।

नाट्य साहित्य की आलोचना पण्डित राम कृष्ण शुक्ल ने 'प्रसाद की नाट्यकला' लिख कर की। इसके अतिरिक्त आपने 'सुकवि-समीक्षा' में कबीर, सूर, जायसी, तुलसी, मीरा, केशव, बिहारी, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकरप्रसाद पर अच्छे आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं।

पण्डित रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल' ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा जिसमें प्राचीन काव्य शास्त्र सम्बन्धी नियमों को सामने रख कर कवियों की आलोचना की गई है। 'आलोचनादर्श' आपका आलोचनाशास्त्रसम्बन्धी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने 'महाकवि हरिऔध' तथा 'गुप्तजी की काव्य-धारा' नामक दो पुस्तकें लिखीं। प्रथम पुस्तक में हरिऔध जी के आत्मचरित्र पर ध्यान दिया गया है। दूसरी पुस्तक में गुप्त जी के काव्य की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया गया है।

श्री रामकुमार वर्मा ने 'साहित्य समालोचना' तथा 'कबीर

का रहस्यवाद' नामक दो समालोचनासम्बन्धी पुस्तकें लिखी है। साहित्य समालोचना में साहित्य के विविध अङ्ग काव्य कहानी, रंगमञ्च तथा समालोचना पर प्रकाश डाला गया है; दूसरे में कबीर के रहस्यवाद का स्पष्टीकरण है। इसके अतिरिक्त अभी आपका एक हिन्दी साहित्य का इतिहास निकला है।

पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूरदास पर सूर साहित्य नामक एक गम्भीर विवेचनात्मक पुस्तक लिखी है। इसमें सूरदास पर आधुनिक ढंग की आलोचना है। इसके अतिरिक्त आपका 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' भी एक समीक्षा सम्बन्धी ग्रन्थ है।

पं० कृष्णशंकर शुक्ल का 'कविवर रत्नाकर' तथा 'केशव की काव्य कला' नामक दो आलोचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त आपका आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास भी एक पाण्डित्य पूर्ण ग्रन्थ है।

अब तो कवियों और लेखकों की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराने के लिये सब प्रकार की पुस्तकें लिखी जाने लगी हैं।

प्रो० सत्येन्द्र का 'गुप्तजी की कला' रामनाथलाल 'सुमन' का 'प्रसाद की काव्यसाधना' पंडित भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र 'माधव' का मीरा की प्रेम साधना, अखौरी गंगानन्द सिंह की 'पद्माकर की काव्यसाधना' प्रो० नगेन्द्र का 'सुमित्रा नन्दन पंत' ये सब इसी कोटि में आती हैं।

पं० जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने 'प्रेमचन्द की उपन्यासकला'

लिखकर उपन्यास की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया।

पं० नन्ददुलारे जी वाजपेयी ने प्रसाद जी पर एक पुस्तक लिख कर उनकी कृति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इस छोटी सी पुस्तक में प्रसादजी के सम्पूर्ण कार्य क्षेत्र का स्पष्टीकरण किया गया है।

विद्यापति पर भी विद्यापतिकाव्यालोक नामक एक पुस्तक निकली है, पंडित भागीरथप्रसाद दीक्षित ने भूषण विमर्श लिखकर भूषण की विचारपूर्ण आलोचना की है। पंडित शाँतिप्रिय द्विवेदी ने हमारे साहित्य निर्माता, लिखी। गुलाबराय जी की भी समालोचनायें एक स्फुर्ति रखती हैं। इसके अतिरिक्त पत्र पत्रिकाओं में सब प्रकार की आलोचनायें निकला करती हैं। कहीं कहीं व्यक्तिगत आक्षेप की कुत्सित प्रणाली दृष्टिगोचर होती है जो साहित्यसर्जन के लिये हानिकारक है।

समालोचना का भविष्य

अभी हिन्दी में उत्कृष्ट समालोचना साहित्य की आवश्यकता है। उसके लिये यह आवश्यक है कि हिन्दी साहित्यकारों के जीवन चरित्र और कृतियों की माला (life and work series) निकाली जाय। जब सब प्रसिद्ध साहित्यकारों पर इस प्रकार की पुस्तकें निकलेंगी तो प्रभावाभिव्यंजक आलोचना के लिये अवकाश मिलेगा। फिर तो आलोचना की सुन्दर परिपाटी चल पड़ेगी।

इस पुस्तक का प्रणयन तीन दृष्टिकोणों को सामने रखकर किया गया है। (१) हिन्दी में विभिन्न समालोचना शैलियों का प्रदर्शन (२) समालोचना साहित्य के निर्माण में प्रारंभिक समीक्षकों का स्थान (३) हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक आलोचना पूर्ण सिंहावलोकन। अतः यदि किसी समालोचक के लेख छूट गये हों तो इसका कारण यही दृष्टिकोण है। हमारे आदरणीय प्रो० दयाशंकर जी दूबे (परीक्षा मन्त्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन अध्यापक- प्रयाग विश्व विद्यालय) का प्रोत्साहन और प्रेरणा ही इस पुस्तक के निर्माण का कारण है। हम एतदर्थ उनके अत्यन्त आभारी हैं। इसके अतिरिक्त पं० रामशङ्कर शुक्ल जी रसाल ने जो समय समय पर अपनी सम्मतियों द्वारा पुस्तक प्रकाशन में सहायता दी है उसके लिये हम कृतज्ञ हैं।

जिन जिन लेखकों और प्रकाशकों ने इस संकलन के लिये अपनी सहर्ष अनुमति प्रदान की है उनके हम अत्यन्त अनुगृहित हैं।

पुस्तक में प्रकाशन की शीघ्रता के कारण जहाँ कहीं भी अशुद्धियाँ या त्रुटियाँ रह गई हों, उसे पाठक शुद्ध कर पढ़ने की कृपा करें।

यदि मेरे इस परिश्रम से विद्यार्थियों को समालोचनातत्व का ज्ञान होजाय तो हम अपने को सफल समझेंगे।



मिश्रबन्धु

मिश्रबन्धु-अर्थात् श्री गणेशविहारी मिश्र, श्री श्याम-विहारी मिश्र तथा श्री शुकदेवविहारी मिश्र तीनों भाई इसी उपनाम से हिन्दी में प्रसिद्ध हैं। इसमें गणेशविहारी मिश्र सबसे बड़े हैं। श्यामविहारी मिश्र का जन्म संवत् १९३० में हुआ। शुकदेव विहारी मिश्र सब से छोटे हैं। आपका जन्म संवत् १९३६ में हुआ।

मिश्रबन्धु प्रसिद्ध समालोचक, इतिहासकार और निबन्ध-लेखक हैं। 'लवकुश चरित्र' आप लोगों का एक काव्य-ग्रन्थ है। भारतीय इतिहास, सुमनोंजलि और भूषण ग्रन्थावली आदि आपके अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

जिन ग्रन्थों के कारण मिश्रबन्धुओं की ख्याति है वे हैं 'मिश्र बन्धु-विनोद' और 'हिन्दी नवरत्न।' मिश्रबन्धु-विनोद में लगभग १६०० पृष्ठ हैं। इसका निर्माण 'भाषा के उत्तमोत्तम नवीन और प्राचीन कवियों की कविता पर समालोचना लिखने के उद्देश्य' से हुआ था। इसमें इतिहास का क्रम रखने के लिये कवियों का हाल समयानुसार लिखा गया है। ग्रन्थ के आदि में संक्षिप्त इतिहास भी दे दिया गया है। वर्तमान लेखकों का केवल समय और उनकी रचनाओं का उल्लेख किया गया है।

'हिन्दी नवरत्न' में हिन्दी के नौ श्रेष्ठ कवियों की जीवनी और समालोचना है। इसमें चन्द, तुलसी, सूर, कबीर, देव, बिहारी, भूषण, मतिराम, हरिश्चन्द्र सम्मिलित हैं।

इन्हीं दोनों ग्रन्थों में मिश्रबन्धु समालोचक के रूप में हमारे सामने आते हैं। आपकी समालोचना शैली गुण-दोष वर्णन की है। यह गुण-दोष प्रदर्शन की शैली बाह्य है। आपकी समीक्षाओं से हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

आपके सम्बन्ध की एक और विशेषता है जिसे आपने स्वयं स्वीकार किया है कि—"हमने आज तक अपने किसी हिन्दी सम्बन्धी कार्य द्वारा कोई आर्थिक लाभ नहीं उठाया। इसीसे स्वभावतः हमें उत्साही प्रकाशकों का प्रोत्साहन रुचिकर होता है।"

समीक्षाकार की दृष्टि से आपका स्थान हिन्दी के प्रारंभिक समालोचना साहित्य-निर्माण करने वालों में श्रेष्ठ है।

महाकवि भूषण त्रिपाठी

हिन्दी-साहित्य-सेवियों में शायद ही कोई ऐसा हो, जो 'भूषण' की कविता से परिचित न हो। वीर-रस में इनकी जोड़ का दूसरा कवि हिन्दी में एक भी नहीं है वरन यों कहना चाहिये कि इन्होंने इस रस को ऐसा अपना लिया है, कि इसका नाम लेते ही बरबस भूषण का स्मरण हो आता है। इनके विषय में हमने सं० १९६३ के निकट सबसे पहले 'समालोचक' पत्र में, जिसे जयपुरनिवासी स्वर्ग-वासी मिस्टर जैनवैद्य प्रकाशित किया करते थे, एक लेख लिखा था। उसके पश्चात् काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुरोध से हमने इनके सभी प्राप्य ग्रंथों का 'भूषण-ग्रंथावली' के नाम से संपादन करना आरम्भ किया, और वे 'नागरी प्रचारिणी ग्रंथमाला' में निकलने लगे। तीन वर्ष के पश्चात् वह 'ग्रंथावली' समाप्त हुई।* इस बीच हमने भूषण पर एक लेख कलकत्ते के 'देव-नागर' में भी निकाला, जिसपर दो एक महाशय ने कुछ लिखा भी।

नागरी-प्रचारिणी ग्रंथमाला में प्रकाशित अपनी 'भूषणग्रन्थावली' में हमने इनके विषय में ८७ पृष्ठों की एक भूमिका लिखी जिसमें यथाशक्ति इस कविरत्न की समालोचना की, और जीवनी भी दी। यह 'भूषण-ग्रन्थावली' उक्त सभा से मिल सकती है। इस छोटे से लेख में उसी भूमिका का सारांश हम देते हैं। कुछ नई बातें भी लिखते हैं।

---

*अब इसका चौथा संस्करण निकला है।

जो भूषण का विशेष हाल जानना चाहें, वह 'भूषण-ग्रन्थावली' देखें।

भूषण कान्यकुब्ज ब्राह्मण कश्यप गोत्री त्रिपाठी (तिवारी) थे। इनके पिता का नाम रत्नाकर बतलाया जाता है। कविवर चिंतामणि, महाकवि मतिराम और संभवत: नीलकंठ उपनाम जटाशंकर इनके भाई थे। चिंतामणि और मतिराम भूषण के भाई थे, ऐसा कई प्राचीन प्रमाणों से भी सिद्ध है, जैसा कि हमने अपने ग्रन्थ सुमनोंजलि में विस्तार-पूर्वक लिखा है, किन्तु जटाशंकर का इनका भाई होना केवल जनश्रुति पर अवलंबित है। सम्भवतः जटाशंकर सगे भाई न थे। सब भाइयों में इनका दूसरा नम्बर था। यह त्रिविक्रमपुर वर्तमान तिकवांपुर में रहते थे, जो जमुना नदी के बाएँ किनारे पर, जिला कानपुर, परगना व डाकखाना घाटमपुर में, मौजा अकबरपुर-बीरबलपुर से दो मील की दूरी पर बसा है। कानपुर-हमीरपुर की पक्की सड़क पर कानपुर ३०वें एवं घाटमपुर-तहसील से ७ वें मील पर 'सजेती' नामक एक ग्राम है जहाँ से 'तिकवाँपुर' केवल दो मील रह जाता है। 'अकबर बीरबल' का हवाला 'शिवराज भूषण' के छंद नंबर २७ में है।

कहते हैं, रत्नाकर, देवी जी के बड़े भक्त थे। भूषण के कई छंदों में सं० १७८० तक की घटनायें कथित हैं। एक में सं० १७९७ तक की घटना है, यद्यपि यह छंद संदिग्ध है। सुमनोंजलि में इसका सविस्तार कथन है। इनके भाई मतिराम के प्रपौत्र ने इन तीनों भाइयों का कथन करके इनका कश्यप गोत्री तिवारी एवं तिकवाँ-पुर निवासी होना लिखा है। अब हमको भूषण का जन्मकाल सं० १६९२ के आस-पास और सं० १७९७ के लगभग इनका स्वर्गवास

होना मालूम होता है। भूषण प्रायः २० वर्ष तक बिलकुल अपढ़ तथा निकम्मे थे, और अपने बड़े भाई चिंतामणि की कमाई में बसर करते थे। कहते हैं, एक दिन इनकी बड़ी भावज ने इन्हें भोजन करते समय नमक माँगने पर ऐसा कटु वाक्य कहा कि वह भोजन छोड़ तत्काल चल दिये। इसी समय बाहर जाकर इन्होंने पढ़ने-लिखने में विशेष श्रम किया। आठ दस वर्षों में ही ये अच्छे विद्वान और कवि हो गये। जान पड़ता है सं० १७२३ के लगभग आप हृदयराम-सुत रुद्रराम सोलंकी चित्रकूटाधिपति के यहाँ थे। उन्हीं के यहाँ इन्होंने अपनी भद्र कविता के कारण 'कवि-भूषण' की उपाधि पाई। इन सोलंकियों का राज्य सं० १७३८ के लगभग महाराज छत्रसाल ने छीन लिया। अतएव यह घटना सं० १७२८ के पूर्व की होगी।

कुल सुलंकि चितकूट-पति साहस-सील-समुद्र,
कवि-भूषण पदवी दई हृदय राम-सुत रुद्र।

(शिवराज भूषण, छंद २८)

उस समय भी इनकी कवित्व-शक्ति जैसी बढ़ी-चढ़ी थी उसका परिचय नीचे-लिखे छंद से मिल जायगा—

बाजि-वम्ब चढ़्यो साजि बाजि जब कलाँ भूप,
गाजी महाराज राजी भूषन वखानते;
चंडी की सहाय महि मंडी तेज ताँई, ऐंड
छंडी राय राना जिन दंडी-औनि आनते।
मंदी-भूत रवि रज बंदीभूत हठधर,
नंदी-भूत पति-मो आनंदी अनुमान ते;

रंकीभूत दुवन, करकीभूत दिगदंती,

पंकीभूत-समुद सुलंकी के पयान ते ॥ १ ॥

(स्फुट काव्य छंद २)

भूषण का वास्तविक नाम कुछ और था। भूषण तो उनकी उपाधि है, पर अब वास्तविक नाम का कहीं पता नहीं लगता।

कुछ लोग रुद्रराम सोलंकी के यहाँ से इनका दिल्लीश्वर औरङ्गजेब के यहाँ जाना लिखते हैं, पर इसका कुछ भी दृढ़ प्रमाण नहीं, वरन् अनेक विचारों से यह बात अग्राह्य सिद्ध होती है। जो कहानियाँ इनके औरङ्गजेब के दरबार में होने और उनसे झगड़ कर चले जाने के विषय में प्रसिद्ध हैं, उनका समर्थन चिटणीस बखर से होता है, किन्तु वे बहुत कुछ अग्राह्य सी हैं। यह बखर भी नया है।

रुद्रराम के यहाँ से भूषण सीधे शिवाजी के यहाँ, सं० १७२४ के अंत तक, पहुँचे होंगे। भूषण ने अवधूत सिंह का एक कवित्त कहा है। (स्फुट काव्य छन्द ४) यह महाशय सं० १७५७ से १८१२ तक रीवाँ की गद्दी पर रहे। आप केवल ६ मास की अवस्था में गद्दी पर बैठे थे।

संवत् १७२४ के अन्त में प्रायः ३२ वर्ष की अवस्था में, भूषण शिवाजी के यहाँ पहुँचे, और अचानक एक देवालय पर महाराज से इनकी भेंट हो गई। इन्होंने शिवाजी को पहचाना नहीं पर उनके कहने पर अपना एक छंद (शि० भू० छंद ५६) १८ बार पढ़ कर सुनाया। इस पर महाराज ने इन्हें १८ लक्ष मुद्रा, १८ ग्राम इत्यादि पुरस्कार में दिये, और बड़े सम्मान के साथ अपना राजकवि बनाया,

ऐसा कहा जाता है। सुनते हैं, इसी अवसर पर भूषण ने अपनी भावज के पास एक लाख रुपये का लवण भेज दिया। इसी समय से सं० १७३० तक, भूषण ने अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'शिवराज भूषण' बनाया। भूषण के समकालीन सं० १७६०वाले लोकनाथ कवि ने इनका केवल ५२ हाथी पाना लिखा है। जान पड़ता है भूषण ने ५२ हाथी तथा प्रचुर धन पाया होगा। सं० १७३१ के लगभग यह कुछ दिन के लिये अपने घर आये, पर रास्ते में छत्रसाल बुन्देला के यहाँ भी हो लिये। महाराज छत्रसाल ने इनका बड़ा सम्मान किया, यहाँ तक कि चलते समय इनकी पालकी का डंडा अपने कंधे पर रख लिया। भूषण जी अत्यन्त प्रसन्न होकर पालकी से कूद पड़े, और उन्होंने चार-पाँच परमोत्कृष्ट छंद महाराज की प्रशंसा में तत्काल बनाये या पढ़े (छत्रसाल-दशक के छंद ४ और ५) होंगे। कुछ दिन घर रह कर आपने कुमाऊँ-महाराज के यहाँ जाकर उनकी प्रशंसा का एक छंद पढ़ा (स्फुट काव्य छंद ६)। महाराज ने इन्हें एक लाख रुपया भेंट करना चाहा, पर इनकी विशेष खातिर न की। इसपर रुष्ट होकर बिना रुपया लिये ही यह चल दिये। यह किंवदंती भी बहुत प्रसिद्ध है।

कुछ दिन बाद भूषण जी महाराज शिवाजी के यहाँ फिर गये, और समय-समय पर उनकी प्रशंसा के छंद बनाते रहे। उनमें 'शिवाबावनी' के भी छंद हैं। भूषण का यहाँ-वहाँ जो आना-जाना लिखा गया है. वह अनुमान पर ही अवलंबित है। उनका दो बार शिवाजी के यहाँ जाकर दोनों बार कुछ काल रहना चिटणीस बखर में लिखा है। अन्यत्र जाना इनके छन्दों से सोचा गया है।

महाराज छत्रसाल के यहाँ आप दो और तीन बार गये होंगे, ऐसा समझ पड़ता है। शायद इन्होंने दो-चार और ग्रन्थ भी बनाये हों, पर उनका ठीक पता नहीं चलता। 'शिवसिंह सरोज' में इनके अन्य तीन ग्रंथों के नाम दिये हैं—भूषण-हज़ारा, भूषण-उल्लास, और दूषण-उल्लास। हज़ारे का होना कविवर कालिदास त्रिवेदी ने भी लिखा है, पर इन ग्रंथों का ठीक पता अब तक कहीं नहीं चला है। इसमें संदेह नहीं कि भूषण के और कई ग्रन्थ होंगे अवश्य, पर उनमें से किसी का पता नहीं है। हाल ही में भूषण के प्रायः १०० नवीन छंद प्रकाशित हुए हैं। इनके विषय में और भी बहुत कुछ कथोपकथन लोगों ने किये हैं। सं० १७३७ में, शिवाजी का स्वर्गवास होने पर, भूषण कदाचित् छत्रसाल के यहाँ होते हुए फिर घर लौट आये हों। कभी कभी छत्रसाल के यहाँ यह बराबर आते जाते रहे होंगे। सं० १७६४ में साहूजी का दिल्ली से छुटकारा हुआ। उस अवसर पर यह अवश्य ही उनके यहाँ गये होंगे। साहूजी विषयक इनका एक उत्कृष्ट कवित्त प्रसिद्ध है (स्फुट काव्य छंद ६७)। छत्रसाल की प्रशंसा करते समय तक यह साहू जी को नहीं भूले। यथा—

राजत अखंड तेज, छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयंद, दिग्गजन उर साल को;
जाहि के प्रताप सों मलीन आफताब होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को।
साज सजि गज, तुरी, पैदर कतार दीन्हें,
'भूषन' भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को?

और राव-राजा एक मन मैं न ल्याऊँ अब
साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को ॥२॥
(छत्रसाल दशक छंद १०)

नाती को हाथी दियो, जापै ढरकति ढाल;
साहू के जस-कलस पै, ध्वज बाँधी छत्रसाल।

इससे स्पष्ट विदित होता है कि साहूजी ने भी भूषण की खातिर-दारी की होगी।

समझ पड़ता है कि सं० १७६७ के निकट भूषण अपने भाई मतिराम की प्रेरणा से बूँदी-नरेश 'राव-राजा बुद्ध सिंह' के दरबार में गये और उनके वृद्ध प्रपितामह महाराज छत्रसाल हाड़ा के संबंध में दो कवित्तों के अतिरिक्त निम्न-लिखित कवित्त भी पढ़ा—

रहत अछक, पै मिटै न धक-पीवन की;
निपट जु नाँगी डर काहू के डरै नहीं;
भोजन बनावै नित चोखे खान-खानन के,
सोनित पचावै, तऊ उदर भरै नहीं।
ऊगिलत आसौ, तऊ सुकुल समर बीच,
राजै राव-बुद्ध-कर, बिमुख परै नहीं,
तेग या तिहारी मतवारी है अछक तौ लौं,
जौं लौं गजराजन की गजक करै नहीं॥

कदाचित् राव बुद्धसिंह ने इनकी वैसी खातिर-बात न की जैसी यह चाहते थे। अतः थोड़े ही दिनों में यह वहाँ से लौट पड़े होंगे।

राह में महाराज छत्रसाल बुन्देले के यहाँ पहुँचने पर इन्होंने बुन्देला महाराज का जो छंद पढ़ा, उसमें 'राव राजा बुद्धसिंह' की साफ़ शिकायत है। ऊपर उद्धृत छत्रसाल दशक का छन्द नंबर १० देखिये। सं० १७७२ के लगभग जब महाराज साहू जी ने उत्तर का धावा किया, तब भूषण जी ने उनकी प्रशंसा में निम्न-लिखित छंद बनाया—

बलख-बुखारे-मुलतान-लौं कहर पारै,
कपि-लौं पुकारैं, कोऊ धरत न सार है;
रूम रूँदि डारै, खुरासान खूँदि मारै, खाक
खादर लौं झारै ऐसी साहु की बहार है।
कक्कर लौं, बक्खर लौं, मक्कर लौं चलो जात
टक्कर लेवैया कोऊ वार है न पार है;
'भूषन' सिरोज लौं परावने-परत फेरि
दिल्ली पर परति परिंदन की छार है ॥४॥
(स्फुट काव्य छंद ७)

इस समय भूषण की अवस्था प्रायः ६४ वर्ष की होगी, पर उनमें उदण्डता वहीं भरी हुई थी। इसके पीछे भी उनके जीवित रहने के कई प्रमाण मिलते हैं। भूषण के अन्य आश्रयदाता भी कई थे, जैसा कि इनके स्फुट छन्दों से प्रकट है। उनके नाम यहाँ दिये जाते हैं—

हृदयराम-सुत रुद्र सुरकी महोबा-निवासी (सं० १७२३), महाराजा अवधूत सिंह रीवाँ-नरेश (सं० १७५७-१८१२), कुमाऊँ-नरेश

ज्ञानचन्द्र (सं० १७५७-६५), फ़तेह शाह गढ़वाल-नरेश (सं० १७४१-७२), सवाई जयसिंह जयपुर-नरेश (सं० १७६५-१८००), साहूजी भोंसला (सं० १७६५ १८०५), बाजीराव पेशवा (सं० १७७७-९७), चिन्तामणि (चिमना जी) (सं० १७९०) महाराज छत्रसाल महेवा पन्ना (सं० १७२८-१७८९), रावराजा बुद्धसिंह-बूँदी-नरेश (सं० १७६४-१८०५) दाराशाह (सं० १७१६ तक) और भगवंत राय खींची-कसोथर नरेश (सं० १७८०-९७)।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भूषण कृत सबसे पीछे का छंद सं०१७९७ में महाराज भगवंतराय खींची की मृत्यु पर शोक है। अतएव इनका इस संवत् तक जीना निकलता है। इसी संवत् के आस-पास भूषण का शरीरांत हुआ होगा। यह छंद कुछ संदिग्ध भी है। भूषण के घरेलू चित्रों का हाल प्रायः कुछ भी विदित नहीं है। यह पुत्रवान थे क्योंकि तिकवांपुर में पता लगाने से हमें विदित हुआ है कि ज़िला फ़तेहपुर और कहीं मध्यप्रदेश में इनके वंशज अब भी वर्तमान हैं। सीतल कवि भी इन्हीं के वंशज प्रसिद्ध हैं। भूषण पूर्ण तथा धन-सम्पन्न होगये थे, और बड़े आदमियों की भांति रहते थे। देश-भर में और राजों-महाराजों में इनका सदैव बड़ा मान रहा। इनकी कविता में सैकड़ों स्थानों एवं तत्कालीन ऐतिहासिक पुरुषों के नाम और वर्णन आये हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इन्होंने देशाटन भी खूब किया था। यह बड़े ही प्रभावशाली कवि हो गये हैं। इनका-सा सम्मान अथवा धन केशवदास के अतिरिक्त कविता से किसी हिन्दी-कवि ने यद्यपि नहीं प्राप्त किया।

हमने भूषण-ग्रंथावली में शिवराज भूषण, शिवाबावनी, छत्रसाल-दशक और स्फुट काव्य नाम के चार ग्रन्थ प्रकाशित करवाये हैं। प्रायः ये सभी ग्रन्थ पहले प्रकाशित हो चुके थे, पर अशुद्ध और विकृत रूप में। हमने १७ ग्रन्थों को इस संबंध में देख कर और अनेक प्रकाशित एवं अप्रकाशित प्रतियों को मिलाकर 'ग्रन्थावली' को टिप्पणी सहित संशोधित करके काशी की नागरी प्रचारिणी ग्रन्थमाला में छपवाया। शिवराज भूषण की पहले वाली मुद्रित प्रतियों में प्रायः तीन सौ छंद हैं, पर हमारी प्रति में ३८२ छंद दिये गये हैं। शेष तीन ग्रन्थों के कवित्त हमने जगह जगह एक ग्रंथ से दूसरे में अदलबदल कर दिये हैं, एवं उनका क्रम भी सचमुच रूप से संशोधित कर दिया है। इससे आशा है, वे ग्रन्थ अब ठीक रूप में आगये हैं। उसका चौथा संस्करण और भी उन्नत है। भूषण संबधी हमारे सविस्तर विचार भूषण-ग्रन्थावली तथा सुमनांजलि में मिलेंगे। इस ग्रन्थ में वे बहुत संक्षेप से दिये गये हैं। शुद्ध अंतिम कथन केवल चौथे संस्करण में है।

भूषण की कविता से तत्कालीन इतिहास की प्रसिद्ध प्रसिद्ध घटनाओं का पता भली भाँति लग जाता है। इतना ही नहीं वरन् इनके अत्यन्त सत्य प्रिय होने के कारण इनके ग्रंथों से इतिहास को भी अच्छी सहायता मिल सकती है। इन्होंने उस समय की प्रचलित काव्य प्रणाली छोड़कर वीर रस की ओर ध्यान दिया और एक नवीन प्रकार की कविता का प्रचार किया। इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि इनके पहले वीर काव्य था ही नहीं परन्तु इसमें सन्देह

नहीं की उक्त रस पर इतना अनुराग अन्य कवियों ने नहीं प्रकट किया था, और न उसमें इतनी सफलता ही किसी ने प्राप्त की थी। 'हिन्दी नवरत्न' में वीर रस के पूर्ण पतिपादक एक मात्र यही महाकवि हैं। अवश्य ही वीर-रस में हम रौद्र और भयानक रसों को सम्मिलित मानते हैं। यह कवि एक और बात में भी बड़े भाग्यशाली थे। इनके शेष दोनों भाई भी बड़े अच्छे कवि थे। मतिराम तो नवरत्नों में ही सम्मिलित हैं। चिंतामणि भी नामी कवि हो गये हैं। हिन्दी में ऐसा दूसरा उदाहरण तो है ही नहीं। शायद अन्य भाषाओं में भी न मिले! कोइ दो भाई किसी अन्यभाषा के सर्वोच्च कवियों की श्रेणी में न पहुँचे होंगे।

भूषण के ग्रंथों पर विचार

(१) शिवराज भूषण—यह ग्रन्थ इन कविरत्न के प्राप्य ग्रन्थों में सबसे बड़ा है, वरन् इसी को ग्रन्थ कहा जा सकता है, क्योंकि शेष तीन ग्रन्थ अधिकांश में बहुत छोटे और संग्रह-मात्र हैं। इसमें भूषण ने अलंकारों का पूर्ण क्रम रखते हुए भी सभी पद्य शिवाजी की ही प्रशंसा में कहे हैं। हिन्दी में किसी एक ही व्यक्ति की प्रशंसा में कोई दूसरा नामी अलंकार-ग्रन्थ हमने नहीं देखा। केवल मिश्र नंदकिशोर (उपनाम लेखराज कवि) ने, जिनका हाल शिवसिंह सरोज एवं डाक्टर ग्रियर्सन के The Modern Vernacular Literature of Hindustan में भी लिखा है, श्री गंगाजी की स्तुति में 'गंगाभूषण' नामक एक अलंकार-ग्रंथ बनाया। शिवराज

भूषण को भूषण ने शिवाजी के यहाँ आते ही, सं० १७२४ से बनाना आरम्भ कर दिया होगा। प्रस्तुत क्रम से ही यह उसे १७३० तक बनाते रहे, परन्तु कुछ-कुछ अलंकारों के उदाहरण पीछे से जोड़ गये एवं अन्य हेर-फेर समय समय पर होते रहे होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

ग्रंथ के आरम्भ में श्रीभगवती की, एक बड़े ही प्रभावोत्पादक छंद द्वारा, स्तुति की गई है। फिर राज-वंश-कथन में रायगढ़ का चमत्कार-पूर्ण वर्णन है। पीछे कविवंश में भूषण ने अपना भी ठीक पता दे दिया है। इसके पीछे अलंकारों का क्रम आरम्भ हो जाता है। इसमें भी भूषण ने तत्कालीन मनुष्यों के वास्तविक चित्र खींच देने में खूब ही कृतकार्यता प्राप्त की है। इनके अलंकारों के उदाहरण भी बड़े स्पष्ट हैं। कुछ थोड़े से अलंकारों को छोड़ कर सभी के लक्षण और उदाहरण इन्होंने दिये हैं। भूषण ने 'परिणाम' और 'दीपक' अलंकारों के उदाहरण अन्य कई आचार्य्यों से अच्छे कहे हैं, पर 'विकल्प' एवं 'सामान्य' के उदाहरण किसी कारण से अशुद्ध हो गये हैं, कभी कभी इनके लक्षण अन्य कवियों के लक्षणों के विरुद्ध हो गये हैं, पर इन्होंने वहाँ नंबर ३७९ में लिख दिया है कि मैंने यह ग्रंथ "लखि चारु ग्रंथन निज मता युत" बनाया है। भूषण भयानक-रस के वर्णन में बहुत विशेषता रखते हैं। इन्होने शिवाजी की शूरता और उनके दल का उतना वर्णन नहीं किया, जितना शत्रुओं पर उनकी धाक का। शिवराज भूषण एक बड़ा ही प्रशंसनीय ग्रंथ है। वह संवत् १७३० में, सुदी १३ बुध को समाप्त हुआ, पर महीना नहीं

लिखा है। उक्त संवत् के श्रावण और कार्त्तिक मास में शुक्ल-पक्ष की त्रियोदशी बुध के दिन पड़ती है। जान पड़ता है कार्त्तिक सुदी १३ बुद्धवार संवत् १७३० को यह ग्रंथ समाप्त हुआ; कारण यह कि कुवाँर-कार्त्तिक तक की घटनाओं का भी इसमें कथन है। यह बड़ा ही अच्छा ग्रंथ है, और हिन्दी में इसका पूर्ण मान है। इसमें सं० '१७३०' के पीछे की कोई घटना नहीं है।

(२) शिवा बावनी—यह भूषण के शिवाजी विषयक ५२ छंदों का एक संग्रह है। जोरदारी और गौरव में यह ग्रंथ बहुत ही उच्च-कोटि का है। इसके छंद शिवराज भूषण के छन्दों से भी अधिक प्रभावोत्पादक हैं। इसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। निस्संदेह इसके बहुतेरे कवित्त शिवराज भूषण समाप्त होने के पीछे बने। इस बात को हमने अपनी भूषणग्रंथावली की भूमिका में साफ लिखा है। यह अति उत्कृष्ट पुस्तक है। हिन्दी में इसके जोड़ के बहुत ग्रंथ नहीं मिलेंगे। उदाहरण में हम इसके केवल तीन पद्य देते हैं--

गढ़न-गजाँय गढ़ धरन-सजाय करि
छाँडि़ दीन्हें धरम-दुआर दै भिखारी-से;
साहि के सपूत-पूत वीर सिवराज सिंह,
केते गढ़धारी किये वन-वन-चारी-से।
'भूषन' बखानैं केते दीन्हें वंदीखाने, सेख,
सैयद हज़ारी गहे रैयत-बजारी-से;

महता-से मुगल, महाजन-से महाराज,
डाँडि लीन्हें पकरि पठान पटवारी से ॥५॥

दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा-सिवाजी गाजी,
डग्ग नाचे डग्ग पर रुंड-मुंड फरके;
'भूषन' भनत बाजे जीति के नगारेभारे
सारे करनाटी-भूप सिंहल को सरके।
मारे सुनि सुभट पनारे-वारे उद्भट
तारे सुने फिरत सितारे-गढ़धर के;
बीजापुर बीरन के, गोलकुंडा धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाड़िम-से दरके ॥६॥

दाढ़ी के रखैयन की दाढ़ी-सी रहत छाती,
बाढ़ी मरजाद, जस, हद-हिन्दुवाने की;
कढ़ि गई रैयति के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।
'भूषन' भनत दिल्ली-पति दिल धक-धका,
धाक सुनि-सुनि सिवराज मरदाने की;
मोटी भई चंडी बिनु चोटी के चबाय सीस;
खोटी भई सम्पति चकत्ता के घराने की ॥७॥

(३) छत्रसाल दशक—इस छोटे से ग्रंथ में दो दोहे और आठ कवित्त महाराज छत्रसाल बुंदेला के विषय में है, और वे ही दोनों दोहे और दो अन्य कवित्त छत्रसाल हाड़ा • बूँदी-नरेश के विषय में। इतना छोटा ग्रंथ होने पर भी यह हिन्दी-भाषा का एक नामी ग्रंथ

है, और इसे निकाल डालने से हिन्दी साहित्य में एक प्रकार की कमी आ जायगी! बस इसीसे पाठक इसकी बहुमूल्यता का अनुमान कर सकते हैं। यह ग्रंथ भाषा-साहित्य में एकदम अद्वितीय है, क्योंकि इसका एक भी पद्य किसी प्रकार से हीन नहीं कहा जा सकता। इस ग्रंथ के पद्य स्फुट रूप में समय-समय पर, सं० १७३१ से लेकर १७६७ तक बने और बाद को ग्रंथ-रूप में परिणित कर दिये गये, ऐसा समझ पड़ता है। भूषण सच्चे ब्राह्मण थे, और यह उन्होंने अपनी कविता से स्पष्ट सिद्ध कर दिया है। उन्हें मान से जितनी प्रसन्नता होती थी, उतनी धन प्राप्ति से नहीं। इसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण यही है कि जितना धन इन्हें शिवाजी ने दिया, उसका दशमांश भी छत्रसाल बुन्देला ने नहीं दिया होगा, पर बुन्देला महाराज ने इनका मान बहुत विशेष किया। यहाँ तक कि स्वयं अपने कंधे पर पालकी का डण्डा उठा कर रख लिया! वैसे ही भूषण ने जैसे-जैसे भड़कीले, रोमाँचकारी छंद छत्रसाल के विषय में कहे वैसे कवित्त शिवाजी के विषय में शायद ही दो चार मिल सकें! इस ग्रंथ रत्न के भी केवल दो उदाहरण हम यहाँ देते हैं—

निकसत म्यान ते मयूखैं प्रलै-भानु की-सी,
फारैं तम-तोम-से गयंदन के जाल को;
लागति लपटि कंठ-बैरिन के नागिनि-सी,
रुद्रहि रिझावै दै-दै मुंडन की माल को!
लाल-छितिपाल छत्रसाल महाबाहु-बली,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल को?

प्रति-भट कटक कटीले केते काटि-काटि,
कालिका-सी किलकि कलेऊ देति काल को।
भैया-राय चंपति को चढ़ो छत्रसाल सिंह,
'भूषन' भनत समसेरैं जोम जमकैं;
भादौं की घटा सी उठी गरदैं गगन घेरैं,
सेलैं समसेरैं फेरैं दामिनि-सी दमकैं,
खान उमरावन के, आन राजा-रावन के,
सुनि सुनि उर लागैं घन की-सी धमकैं;
बैहर बगारन की, अरि के अगारन की,
नाँघती पगारन नगारन की धमकैं॥६॥

(४) स्फुट काव्य में से भूषण के पन्द्रह-बीस स्फुट छंद, जो हमें मिल सके, लिखे गये हैं। इसमें भी बड़े ही प्रभावशाली छंद हैं। इस में दो छंद शिवाजी के, एक रुद्रराम सोलंकी का, एक राव बुद्धि सिंह बूंदी-नरेश का और एक अवधूत सिंह के विषय में हैं, और कई शृङ्गार-रस के हैं। भूषण की रचना में इसके बहुत थोड़े छंद मिलते हैं। एक कुमाऊँ नरेश के, एक साहू के और एक शम्भा जी के ऊपर तथा कुछ और लोगों के हैं। इनके प्रायः १०० स्फुट छंद और मिले हैं। स्फुट छंदों में से दो पद्य उदाहरण-स्वरूप दिये जाते हैं:—

जा दिन चढ़त दल साजि अवधूत सिंह,
ता दिन दिगंत लौं दुवन डाटियतु है;
प्रलै के-से धराधर धमकैं नगारा, धूरि,
धारा ते समुद्रन की धारा पाटियतु है।

'भूषन' भनत भुव गोल को कहर तहाँ
हहरत तगा जिमि गज काटियतु है;
काँच से कचरि जात सेस के असेस फन,
कमठ की पीठि पै पिठी से बाँटियतु है ॥१०॥
नेचक-कवच साजि, वाहन बयारि बाजि,
गाढ़े दल गाजि रहे दीरघ बदन के;
'भूषन' भनत समसेर सोइ दामिनी है,
हेतु नर, कामिनी के मान के कदन के।
पैदरि बलाका, धुरवान के पताका गहे
घेरियत चहूँ ओर सूने ही सदन के;
न करु निरादर, पिया सों मिलु सादर ये
आये वीर बादर बहादर मदन के ॥११॥

भूषण की कविता का परिचय

भूषण महाराज ने उपयोगी वर्णनों के साथ भारत-मुखोज्ज्वलकारी शिवाजी, वाजीराव पेशवा और छत्रसाल-सदृश महाराजाओं का यशो-वर्णन करके हिन्दी और देश का भारी उपकार किया। यदि इनमें कोई वैसे बड़े काव्य के गुण न होते तो भी इनका मान इसी कारण से अवश्य होता; पर यहाँ तो 'सोने में सुगन्ध' की कहावत पूर्णतया चरितार्थ होती है। भूषण कविता के विचार से भी हिन्दी के ६ सर्वोच्च कवियों तक में उच्च आसन के अधिकारी हैं। इनकी कविता से हिन्दी-साहित्य के एक मुख्य अंङ्ग की पूर्ति हुई है। इनका नाम हिन्दी के साथ अमर हो गया है।

इनकी भाषा विशेषतः ब्रजभाषा है, पर कहीं-कहीं इन्होंने प्राकृत, बुन्देलखंडी एवं खड़ीबोली के शब्दों का भी प्रयोग किया है। यत्र-तत्र फ़ारसी और अरबी भाषाओं के भी असाधारण शब्द तक लिखे गये हैं, पर दो-चार स्थानों पर उनका अशुद्ध प्रयोग भी हो गया है। इन्होंने बहुत कम असाधारण एवं विकृत शब्द लिखे हैं। इन कविवर का शब्द-समूह अधिकांश नामी कवियों से भी बढ़ा-चढ़ा है। भूषण ने कुल मिला कर केवल दस प्रकार के छंदों का व्यवहार किया है। इनकी भाषा और शब्द-योजना की रीति बहुत प्रशंसनीय है। यह महाशय अन्य कवियों कि भाँति ऐसे पद्य प्रायः नहीं बनाते थे, जो केवल नायक का नाम बदल देने से किसी भी व्यक्ति की प्रशंसा के हो सकते हों। इनके कवित्तों में सैकड़ों विशेष घटनाओं का समावेश है। ऐतिहासिक घटनाओं के साथ इनकी सत्यप्रियता बहुत प्रशंसनीय है। इनमें स्वतंत्रता की मात्रा अधिक थी। शिवाजी, छत्रसाल, कुमाऊँ-नरेश एवं राव बुद्ध तक से इन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता का व्यवहार रखा और उनकी त्रुटियों तक को प्रकट कर दिया। सत्य घटनाओं के साथ ख़याली और भड़कीले वर्णन इन्होंने बहुत कम किये हैं। इतिहास में शिवाजी भवानी के भक्त लिखे हैं, पर भूषण उन्हें शिव-भक्त भी बतलाते हैं। कुछ बखरों में यह शिव-भक्त भी कहे गये हैं। इन्होंने शिवाजी को विष्णु का अवतार माना है, और बार-बार इस मत पर ज़ोर दिया है। यह ठकुर-सोहाती भी हो सकती थी, पर सम्भव है, भूषण का यह मत हो कि राम, कृष्ण इत्यादि सभी 'अवतार' बहुत बड़े मनुष्य-मात्र थे। भूषण की कविता का ओज और उद्दंडता दर्शनीय हैं। उसमें उत्कृष्ट

पद्यों की संख्या बहुत है। हमने इनके प्रकृष्ट कवित्तों की गणना की और उन्हें केशवदास एवं मतिराम के पद्यों से मिलाया, तो इनकी कविता में वैसे पद्यों की संख्या या उनका औसत अधिक रहा। इसी से हमने भूषण का नम्बर बिहारी के बाद और इन दोनों के ऊपर रक्खा है।

भूषण में जातीयता का एक बहुत भारी गुण है। इन्हें हिन्दू-जाति का जितना ध्यान और अभिमान था, उतना हमने भारतेन्दु के अतिरिक्त हिन्दी के किसी भी दूसरे महाकवि में नहीं पाया। वर्त्तमान समय की दृष्टि से मुसलमानों के प्रति इनकी कटूक्तियाँ अनुचित-सी प्रतीत होती हैं, पर उस समय दोनों जातियों में औरङ्गज़ेब के नीच व्यवहार के कारण भयङ्कर शत्रुता थी। सो जातीयता-वश भूषण ने मुसलमानों के विषय में जो बहुतेरे कठोर वाक्य लिखे, वे एक प्रकार से क्षम्य हो सकते हैं। कवियों की बात जाने दीजिए, उस समय के मुसलमान इतिहासकारों तक ने हिन्दुओं के विषय में भूषण की कटूक्तियों से कहीं बढ़ कर अनुचित बातें लिखी हैं। भूषण को हिन्दुओं का इतना ध्यान था कि चाहे जिसकी प्रशंसा हो, सब में वह हिन्दुओं की बात ज़रूर ही रख देते थे। वास्तव में इनकी कविता के नायक न तो शिवाजी हैं, न छत्रसाल, न राव बुद्ध हैं, न अवधूत सिंह, न शंभा जी हैं, न साहू जी; इनके सच्चे नायक हैं हिन्दू। अन्य नायक 'हिन्दुआन को अधार' 'ढाल हिन्दुआने की' इत्यादि हैं। मतलब यह कि भूषण की कविता हिंदूमय हो रही है।

इनकी कविता में कोई कहने योग्य दूषण नहीं है। सब मिलाकर

निष्कर्ष यह निकलता है कि भूषण की कविता वास्तव में हिन्दी-साहित्य का भूषण है और यह सचमुच महाकवि है।

× × ×

कुछ दिन हुए काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा ने भूषण और मतिराम के समय तथा संबंध पर कुछ संदेह प्रकट किया था। मामला इस प्रकार है कि वृत्त-कौमुदी नामक एक नवीन ग्रंथ नागरी प्रचारिणी-सभा, काशी की खोज (सन् १९२०-२२) में प्राप्त हुआ। उसमें लिखा है कि किसी मतिराम ने उसे संवत् १७५८ में रचा। यह मतिराम अपने को वत्स गोत्री त्रिपाठी, विश्वनाथ का पुत्र तथा श्रुतिधर को भतीजा बतलाते हैं। भूषण आदि के विषय में आप अपना कोई सम्बन्ध प्रकट नहीं करते। वृत्त-कौमुदी ग्रंथ हमने नहीं देखा, उसके केवल कतिपय छप्पय तथा दोहे देखे हैं। छन्दो-भङ्ग प्रायः प्रत्येक छप्पय में है। साहित्य-प्रौढ़ता के विचार से वृत्त-कौमुदी के जो छंद हमने देखे हैं, वे रसराज लेखक की गरिमा के चतुर्थांश को भी नहीं पाते। इसी प्रकार इन छंदों में ओज-गुण का प्राधान्य तथा प्रसाद-गुण का नितांत शैथिल्य वर्त्तमान होने से कहना ही पड़ता है कि यह रचना-शैली रसराज के लेखक मतिराम की नहीं है। यद्यपि ललित ललाम के कुछ छंद ओजपूर्ण अवश्य हैं, तथापि उस में प्रसाद-गुण का सौंदर्य विद्यमान है, जो वृत्त कौमुदी के पद्यों में अप्राप्य है। 'ललित ललाम' सं० १७३८ के पूर्व का ग्रन्थ है, तथा 'रसराज' सं० १७६७ के लगभग का माना गया है। उपर्युक्त दोनों ग्रंथों में गुण-विषयक पृथ्वी-आकाश का अंतर है। 'ललित ललाम' के उत्कृष्ट छंद रसरास के साधारण छंदों

के समान है। यह नहीं कहा जा सकता कि मतिराम ने क्रमोन्नति नहीं की, वरन् सं० १७६७ के लगभग उन्होंने एक बारगी प्रचंड कवित्व-शक्ति प्राप्त कर ली। 'वृत्त कौमुदी' के छंद हमें 'ललित ललाम' के चुने हुए छंदों से हीनतर समझ पड़ते हैं। अतएव यदि रसराज के लेखक का संवत् १७५८ में वृत्त कौमुदी ग्रंथ बनाना माना जाय, तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह 'ललित ललाम' के पीछे तेरह-चौदह वर्ष (अर्थात् संवत् १७५८) पर्यंत उन्नति न करके अवनति की ओर गये, तथा तत्पश्चात् संवत् १७६७ के लगभग उन्होंने अद्वितीय कवित्व-शक्ति प्राप्त करली। अतः समझ पड़ता है कि यह वृत कौमुदी 'ललित ललाम, एवं 'रसराज' के लेखक मतिराम की रचना नहीं है। हाल में प्राप्त संवत् १८२७ में छंद रचना करने वाले मतिराम के एक प्रपौत्र ने अपने पूर्व पुरुषों के नाम लिखे हैं, और यह भी कहा है कि मतिराम कश्यप गोत्रीय तिवारी थे। इधर वृत्त कौमुदीकार मतिराम वत्स गोत्री तिवारी थे। अतएव वृत्त कौमुदीकार मतिराम रसराजकार मतिराम से पूर्णतया पृथक व्यक्ति प्रमाणित होते हैं। मतिराम के उपर्युक्त वंश-धर ने यह भी लिखा है कि नृप हम्मीर से सम्मान पाकर चिंतामणि, भूषण और मतिराम टिकमापुर में रहते थे।

संवत् १८११ के एक बिलग्रामी, मुसलमान लेखक ने कुछ मुसल-मान कवियों का हाल अपने ग्रंथ 'तज़किरए-सर्व आज़ाद' में लिखा है। उसमें उन्होंने लिखा है कि भूषण और मतिराम चिंतामणि के भाई थे। इन कथनों तथा जनश्रुतियों से इन तीनों का भाई होना निर्विवाद

प्रमाणित होता है और इनके ममेरे, फुफेरे आदि भाई होने का भी अनुमान लड़ाना नहीं पड़ता।

वर्तमान प्रसिद्ध ऐतिहासिक सर यदुनाथ सरकार तथा केलसकर और तकाखव महाशयों ने शिवाजी-सम्बन्धी इतिहास पर प्रचुर परिश्रम किया है। इन तीनों महाशयों ने हमारी भूषण-ग्रथावली का भी हवाला देकर भूषण को शिवाजी का राजकवि माना है। सभा के मंत्री महाशय ने 'हस्त लिखित हिंदी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' नाम से हाल ही में प्रकाशित एक पुस्तक में पूर्वोक्त मंतव्य लिखा है। उसमें भूषण के समय तथा शिवाजी के यहाँ राजकवि होने के विषय में भी संदेह प्रकट किया गया है। इसमें शिवराज भूषण के निर्माण-काल वाले दोहे को ज्योतिष के आधार पर अशुद्ध बताने का भी उपक्रम किया गया है। सभा द्वारा प्रकाशित भूषण ग्रंथावली में हम सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि शिवराज-भूषण संवत् १७३० में कार्त्तिक शुक्ला त्रयोदशी, बुद्धवार को समाप्त हुआ। शिवराज-भूषण के निर्माण-काल-विषयक एक भ्रष्ट पाठ वाले दोहे के आधार पर यह कहा गया है कि "शिवराज भूषण ग्रंथ संवत् १७३७ में असाढ़ बदी तेरस को समाप्त हुआ, जिस रोज ज्योतिष गणना से वस्तुतः रविवार आता है, और दोहे के पाठ में बुद्धवार है, अतः दोहा कल्पित है।" यह युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। उस दोहे में वह बुद्धवार लिखा भी नहीं है। दोहे का शुद्ध रूप भूषण-ग्रंथावली में छपा है, जो बिना उचित कारणों के अशुद्ध नहीं माना जा सकता। शिवराज भूषण ग्रंथ की अंतरङ्ग परीक्षा से स्पष्ट होता है कि इस ग्रंथ

में भूषण ने संवत् १७१६ से सं० १७३० तक की ही शिवाजी के सम्बन्ध की घटनाएँ लिखी हैं। शिवाजी यद्यपि संवत् १७३० के पश्चात् सात वर्ष और जीते रहे, तथा इन सात वर्षों में भी अनेकानेक महती घटनाएँ सघटित होती रहीं, तथापि उनके विषय में 'शिव-राज-भूषण' का मौनावलंबन एवं 'शिवाबावनी' में उन घटनाओं का भी प्रचुर कथन साफ़ प्रकट करता है कि प्रथम ग्रंथ संवत् १७३० में ही समाप्त हो चुका था। इसी प्रकार ग्रंथ में शिवाजी-सम्बन्धी वर्तमान कालिक कथन, उनका रायगढ़ वास वर्त्तमान काल में कहना, अनेक स्थानों पर उनकी मंगल-वृद्धि के तथा अन्यान्य आशिर्वाद देना भूषण का शिवाजी का राजकवि होना सिद्ध करता है, न कि साहूजी का। यदि साहू के आदेशानुसार ग्रंथ बनता, तो ऐसा कथन उसमें अवश्य होता, तथा यत्र-तत्र साहू की शिवाजी के साथ प्रशंसा एवं कथन अवश्य होते, परन्तु ग्रंथ में साहू का नाम-निशान तक नहीं है। यदि यह कहा जाय कि साहूजी के समय में भूषण ने शिवाजी को नायक मान कर ग्रंथ बनाये, तो क्या यह सम्भव हो सकता है कि भूषण जैसा महाकवि शिवाजी की मृत्यु के ३४ वर्ष पीछे उनको चिरंजीवी होने तथा मंगल वृद्धि प्राप्त करने का आशिर्वाद देता ? भूषण जी ने एक दोहे में लिखा है कि मैं शिवाजी के दरबार में गया, और दूसरे दोहे में लिखा है कि शिवाजी के चरित्र को देख कर मेरे मन में यह हुआ कि भाँति-भाँति के अलंकारों से भूषित करके कविता करूँ, और इसी विचार के होने से शिवराज-भूषण ग्रंथ की रचना की गई।

सभा भूषण का संवत् १७९७ के लगभग तक जीवित रहना कहती है, जिसके प्रमाण में भगवंतराय खींची की मृत्यु पर भूषण का बनाया हुआ एक छंद कहा जाता है। यह छंद यशवंतराय के वर्णन में है, जो भगवंतराय से इतर समझ पड़ते हैं। कारण उनके जूझने से मध्य भारत में, न कि संयुक्तप्रान्त, में तुर्कों का समूह फैलाना छंद में बतलाया गया है, उसमें भगवंतराय खींची का नाम भी नहीं, वरन् यशवंत का है। यह छंद भूधर कवि कृत है, न कि भूषण कृत। यदि भूषण का संवत् १७९७ तक अवस्थित रहना सिद्ध भी हो जाय, तो भी हमारा जन्म-काल मानने से उनका लगभग १०५ वर्ष की आयु पाना समझ पड़ेगा, जो असम्भव नहीं। जहाँ तक सभा के ग्रंथ में प्रमाण दिये गये हैं, वहाँ तक भूषण का संवत् १७७२ के आगे तक जीवित रहना सिद्ध नहीं होता। पीछे से भूषण कृत सं० १७८० तक की घटनाओं के कई छंद मिले हैं। हमने भूषण-ग्रंथावली के प्रथम संस्करण में भूषण का जन्म-काल सं० १६९२ के लगभग माना था। वही अब फिर हमको ठीक जँचता है।



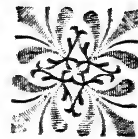
पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदीजी का जन्म दौलतपुर (जि० रायबरेली) में वैशाख शुक्ल सं० १९२७ को और देहावसान सं० १९९५ को हुआ। आपके पिता का नाम पण्डित रामसहाय जी था। आपकी शिक्षा हाईस्कूल तक हुई थी। हिन्दी के अतिरिक्त आपने मराठी, गुजराती, संस्कृत और अंग्रेजी का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। आप कई वर्षों तक रेलवे में काम करते रहे और जी० आई० पी० में टेलिग्राफ आफिस में रहे। आप रेलवे की नौकरी से इस्तीफा देकर हिन्दी-साहित्य की सेवा में लगे रहे। संवत् १९६० में आप सरस्वती के सम्पादक हुए और लगातार बीस वर्षों तक सम्पादन करते रहे।

कुमार-सम्भवसार, नैषध-चरित-चर्चा, विक्रमांक-देव-चरित्र-चर्चा, कालिदास की निरंकुशता, सम्पत्तिशास्त्र, बेकन विचार-रत्नावली, रघुवंश आदि आपकी रचनाएँ हैं।

प्रायः द्विवेदी जी की समीक्षाएँ विशेषतापरिचायक होती हैं। विक्रमांक-देव-चरित-चर्चा तथा नैषध-चरित-चर्चा में इस तरह की समीक्षाएँ मिलेंगी। 'कालिदास की निरंकुशता' में भाषा और व्याख्या के विचार एकत्रित हैं।

द्विवेदीजी की भी आलोचनापद्धति गुण-दोष विवेचना की थी। भाषा, व्याकरण, और विराम सम्बन्धी त्रुटियों की ओर इनका विशेष ध्यान था। इन सब का उलंघन छायावादी कही जाने वाली कविता में प्रायः किया जाता था। इसीलिये उनको निम्नोद्धृत लेख लिखना पड़ा।



आज कल के हिन्दी कवि और कविता

सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ! (भर्तृहरि)

श्रीयुत रवीन्द्र नाथ ठाकुर की गणना महाकवियों में है । वे विश्वविश्रुत कवि हैं । उनके कविता ग्रंथ विदेशों में भी बड़े चाव से पढ़े जाते हैं । कविता ग्रंथों ही का नहीं, उनके अन्य ग्रंथों का भी बड़ा आदर है । उनकी कृतियों के अनुवाद अनेक भाषाओं में हो गये हैं और होते जा रहे हैं । उन्हें साहित्यक्षेत्र में पदार्पण किये कोई ५० वर्ष हो गये । बहुत कुछ ग्रंथरचना कर चुकने पर उन्होंने एक विशेष प्रकार की कविता की सृष्टि की है । वह सृष्टि उनके अनवरत अभ्यास, अध्ययन और मनोऽभिनिवेष का फल है । अंग्रेजी में एक शब्द है (Mystic या Mystical) पण्डित मथुरा प्रसाद मिश्र ने, अपने त्रैभाषिक कोष में उसका अर्थ लिखा है—गूढ़ार्थ, गुह्य , गुप्त, गोप्य और रहस्य । रवीन्द्रनाथ की वह नये ढंग की कविता इसी 'मिस्टिक' शब्द के अर्थ की द्योतक है । इसे कोई रहस्यमय कहता है, कोई गूढ़ार्थ बोधक कहता है और कोई छायावाद की अनुगामिनी कहता है । छायावाद से लोगों का क्या मतलब है कुछ समझ में नहीं आता । शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावाद-कविता कहना चाहिये ।

कुछ शब्दों में विशेष प्रकार की शक्ति होती है। कभी कभी एक ही शब्द या वाक्य से कई अर्थ निकलते हैं। ऐसे अर्थों की वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य संज्ञा है। वाक्य से तो साधारण अर्थ का ग्रहण होता है, लक्ष्य और व्यङ्ग्य से विशेष अर्थों का पर रहस्यमयी कविता को आप इन अर्थों से परे समझिये। एक अलंकार का नाम है—सहोक्ति जहाँ वर्ण्य विषय के सिवा किसी अन्य विषय का भी बोध, साथ ही साथ होता आता है वहाँ वह अलङ्कार माना जाता है। महाकवि ठाकुर की कविता इस अलङ्कार के भी भीतर नहीं आती। संस्कृत भाषा में कितने ही काव्य ऐसे हैं जो आद्योपान्त द्वयर्थक हैं। वर्णन हो रहा है हरि का पर साथ ही अर्थ हर का भी निकलता जाता है। काव्य लिखा गया है राघव के चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में। पर करता चला जा रहा है पाण्डवों के चरित्र का चित्रण। इस तरह के भी काव्यों की कक्षा के भीतर कविवर ठाकुर की कविता नहीं आती। वह आती किसके भीतर है, यह बात कवियों का यह किङ्कर नहीं बता सकता। बताने की सामर्थ्य उसमें नहीं? जिसे इस कविता का रहस्य जानना हो वह बंगला पढ़े। कुछ समय तक उस भाषा में लिखे गये काव्यों का अध्ययन करे तब यदि वह इसकी गुप्त, गूढ़ या छायामयी कविता पर कुछ कह सके तो कहे। रहीम पर कुछ कहना हो तो राम का चरित गान करो, अशोक पर कुछ लिखना हो तो सिकन्दर के जीवन चरित की चर्चा करो—यह अघटनीय घटना कर दिखाना साधारण कवियों का काम नहीं। पर रवि बाबू की गोपनशील कविता हिन्दी के कुछ युवक कवियों के दिमाग में कुछ ऐसी हरकत पैदा

करदी है कि वे असम्भव को सम्भव कर दिखाने की चेष्टा में अपने श्रम, समय और शक्ति का व्यर्थ ही अपव्यय कर रहे हैं। जो काम रवींद्र-नाथ ने चलीस पचास वर्ष के सतत अभ्यास और निदिध्यास की कृपा से कर दिखाया है उसे वे स्कूल छोड़ते ही कमर कसकर कर दिखाने के लिये उतावले हो रहे हैं। कुछ तो स्कूलों और कालेजों में रहते ही रहते छायावादी कवि बनने लग गये हैं। यदि ये लोग रवीन्द्रनाथ ही की तरह सिद्ध कवि हो जाँय और उन्हीं की जैसी गुह्यातिगुह्य कवित्व-रचना करने में भी समर्थ हो जायँ तो कहना पड़ेगा कि किसी दिन—

विन्ध्यस्तरेत् सागरम्

कविता की किस उद्देश्य से जाती है? ख्याति के लिये, यशः प्राप्ति के लिये, धनार्जन के लिये या दूसरों के मनोरञ्जन के लिये। इसके सिवा तुलसीदास की तरह "स्वान्तःसुखाय" भी कविता की रचना होती है। परमेश्वर का सम्बोधन करके कोई कोई कवि आत्मनिवेदन भी, कविता द्वारा ही करते हैं। पर ये बातें केवल भक्त कवियों ही के विषय में चरितार्थ होती है। अस्मदादि लौकिक जन तो और भी मतलब से कविता करते या लिखते हैं और उनका यह मतलब ख्याति, लाभ और मनोरञ्जन आदि के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। इन सभी उद्देश्यों की सिद्धि तभी हो सकती है जब कवि की कविता का आशय दूसरों की समझ में झट आ जाय क्योंकि जो बात समझ ही में न आवेगी उसको दाद देगा कौन? न उससे किसी का मनोरञ्जन ही होगा न उसे सुन कर सुनने वाला कवि का अभिनन्दन ही कर सकेगा और जब उसके हृदय पर कविता का कुछ असर ही न होगा

तब वह कवि को कुछ देगा क्यों ? अब विचार करने की बात है कि वर्तमान छायावादी कवियों की कविता में श्रोताओं को मुग्ध करने योग्य गुण हैं या नहीं ? इस पर आगे चलकर हम सप्रमाण विचार करेंगे।

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि छायावादी कवि दूसरों को प्रसन्न करने के लिये कविता रचना नहीं करते । वे अपनी ही मनस्तुष्टि के लिये कविता लिखते हैं । इस पर प्रश्न हो सकता है कि फिर वे दूसरों से अपनी कविता की समालोचना के अभिलाषी क्यों होते हैं ? मान लीजिये की ये लोग बड़े अच्छे कवि हैं, परन्तु यदि वे अपनी कविता की रचना अपनी ही आत्मा को प्रसन्न करने के लिये करते हैं तो उससे संसार को क्या लाभ ? अपनी चीज़ किसे अच्छी नहीं लगती ? तुलसीदास ने कहा ही है—" निज कविता केहि लाग न नीका" । ऐसे कवियों के विषय में कविवर रुद्रभट्ट की एक उक्ति बड़ी ही मनोहारिणी है ।

सत्यं सन्ति गृहे गृहे सुकवयो येषां वचश्चातुरी
स्वेहर्म्ये कुलकन्यकेवलभते जातैर्गुणैर्गौरवम् ।
दुष्प्रायः सतु कोऽपि कोविदयतिर्यद्वाग्रसग्राहिणा
पण्यस्त्रीव कलाकलापकुशला चेतांसि हंतुं क्षमाः ॥

ऐसे कवि तो घर घर में भरे पड़े हैं जिनकी वचन, चातुरी, अपने ही आंगन में मनोहारिणी बातें करने वाली कुलकन्या के समान, गुणों के अथ सब स्वजनों ही से आदर पाती है। परन्तु जिनकी सरसवाणी (दूर दूर तक के रसग्राही कविता प्रेमियों का चित्त,

कलाकुशल वार वनिल के सदृश, चुरा लेने में समर्थ होती है वे कविवर मुश्किल से कहीं पाये जाते हैं।

एक बात और भी है। यदि ये लोग अपने ही लिये कविता करते हैं तो अपनी कविताओं का प्रकाशन क्यों करते हैं ? प्रकाशन भी कैसा ? मनोहर टाइप में बहुमूल्य कागज़ पर अनोखे अनोखे चित्रों से सुसज्जित टेढ़ी-मेढ़ी और ऊँची-नीची पहाड़ियों में रङ्ग-बिरङ्गे बेलबूटों से अलंकृत। यह इतना ठाठ बाट—यह इतना आडम्बर दूसरों ही को रिझाने के लिये हो सकता है, अपनी आत्मा की तृप्ति के लिये नहीं। परन्तु सत्कवि के लिये इस आयोजन की आवश्यकता नहीं। जिन कवियों को नामशेष हुए हजारों वर्ष बीत चुके उनको यह कुछ भी नहीं करना पड़ा। करना भी चाहते तो वे न कर सकते। क्योंकि उस समय साधन ही सुलभ न थे।

किसी ने काव्य ताड़पत्र पर लिखा, किसी ने भोज-पत्र पर, किसी ने भद्दे और खुरदरे कागज़ पर। पर जनता ने प्रकाशन के आडम्बरों से रहित इन सत्कवियों के काव्यों को यहाँ तक अपनाया कि समय उनको नष्ट न कर सका, धर्म्मान्ध आतता-यियों से उनका कुछ न बिगड़ सका, जलप्लावन और भूकम्प आदि भी इनका नाश न कर सके। सहृदय सज्जनों और कविता के पारखियों ने उन्हें आत्मसात् करके उन्हें अपने कण्ठ और अपने हृदय में स्थान देकर अमर कर दिया। सड़े गले कागज़ और फटे पुराने ताड़पत्र को देखकर काव्य रसिकों ने उन्हें फेंका नहीं। जब पुरातन पत्रों में कुछ ऐसा मोहन मन्त्र था, उनमें कुछ ऐसी अद्भुत शक्ति भी [illegible]

मोह लिया। वही शक्ति, वही मन्त्रौषधि उन काव्यों के जीवित रहने का कारण हुई। सो, छायावादी कवि अपनी कृति को चाहे जितने रम्य रूप में प्रकाशित करें—उसके उपकरणों को वह चाहे जितने मनोमोहक बनावें-यदि उनकी कविता में वह शक्ति नहीं जो सत्कवियों की कविता में होती है तो उनके आडम्बर-जाल में सरस हृदय श्रोताशुक कदापि फँसने के नहीं।

प्राचीन कवियों को जाने दीजिये। आधुनिक कवियों में भी ऐसे कई सत्कवि इस समय विद्यमान हैं, जिनकी कविता-पुस्तकों के थोड़े ही समय में, अनेक संस्करण निकल चुके हैं। उनकी कविता मदरसों, स्कूलों और कालेजों के छात्रों तक की कण्ठहार हो रही है। इन कवियों ने अपनी कविताएँ सजाकर प्रकाशित करने की चेष्टा नहीं की और किसी किसी ने की भी है तो बहुत ही थोड़ी। फिर भी इनकी कविता का जो इतना आदर हुआ है उसका एक मात्र कारण है उसकी सरसता, उसका प्रासादगुण, उसकी वार्णाभरणता और उसकी चमत्कारिणी रचना। अतएव सत्कवियों के लिये आडम्बर की जरूरत नहीं—

किमि वहि मधुराणां मडनं नाकृतीनाम्।

गूढ़ार्थ-विहारी या छायावादी कवियों की कहीं यह धारणा तो नहीं कि हमारी कविता में कविलभ्य गुण तो हैं ही नहीं लाओ ऊपरी आडम्बरों ही से पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट करें परन्तु यह सन्देह निराधार सा जान पड़ता है; क्योंकि इन महाशयों में से कविता कान्तार के किसी किसी कण्ठी रव ने बड़े

गर्जन-तर्जन के साथ अन्य कवियों को लथेड़ा है। इन कठोरकर्म्मा कवियों की दहाड़ें सुनकर ही शायद अन्यकवि भयभीत होकर अपने गूढ़गह्वरों में जा छिपे हैं। किसी से अब तक कुछ करते धरते नहीं बना। इन महाकवियों के महाराजों की समझ में जो कवि इनकी जैसी कविता के प्रशंसक, पोषक या प्रणेता नहीं वे कवि नहीं; किन्तु कवित्वहन्ता हैं। इस 'कवित्वहन्ता' पद के प्रयोग का कर्ता आप कवियों के इस किङ्कर ही को समझिये। यह शब्द एक और ऐसे ही शब्द के बदले यहाँ लिखा गया है। जो है तो समानार्थक, पर सुनने में निकृष्ट निर्दयता-सूचक है। वह शब्द इस विषय में, एक ऐसे साहित्यशास्त्री द्वारा प्रयोग में लाया गया है जो संस्कृत-भाषा में रचे गये अनेक महाकाव्यों के महाकवि में आशैशव गोता लगाते चले आ रहे हैं और जिनका निवास इस समय लखनऊ के अमीनाबाद मुहल्ले में है। अतएव इस शब्दात्मक कठोर कशाघात के श्रेय के अधिकारी वही हैं।

सत्कवि के लिये आडम्बर की मुतलक़ ही जरूरत नहीं। यदि उसमें कुछ सार है तो पाठक और श्रोता स्वयं ही उसके पास दौड़ आवेंगे। आम की मञ्जरी क्या कभी भौरों को बुलाने जाती है ?—

न रत्नमन्विष्यति मृग्यतेहितत्

बात यह !

आजकल के कुछ कवि कवि-कर्म में कुशलता प्राप्ति की चेष्टा तो कम करते हैं, आडम्बर रचना की बहुत। शुद्ध लिखना तक सीखने के पहले ही वे कवि बन जाते हैं और ...

का लाङ्गूल लगाकर अनाप-सनाप लिखने लगते हैं। वे कमल, विमल, यमल और अरविन्द, मिलिन्द, मकरन्द आदि उपनाम धारण करके अखबारों और सामयिक पुस्तकों का कलेवर भरना आरम्भ कर देते हैं। अपनी कविताओं ही में नहीं यों भी जहाँ कहीं वे अपना नाम लिखते हैं काव्योपनाम देना नहीं भूलते। यह रोग उनको उर्दू के शायरों की बदौलत लग गया है। पर इससे कुछ भी होता जाता नहीं। शेक्सपियर, मिल्टन, बाइरन और कालिदास भारवि, भवभूति आदि कवि इस रोग से बरी थे। फिर भी उनके काव्यों का देश-देशान्तरों तक में आदर है। उपनाम धारण की असारता उर्दू ही के प्रसिद्ध कवि चकबस्त ने खूब समझी थी। उनका कथन है—

जिक्र क्यों आयेगा बज़्मे-शुअरा में अपना,
मैं तख़ल्लुस का भी दुनिया में गुनहगार नहीं।

अनूठे अनूठे तखल्लुस (उपनाम) लगाने से किसी की प्रसिद्ध नहीं होती। चकबस्त जी का कौल है —

किस वास्ते जुस्तजू करूँ शुहरत की,
इक दिन खुद ढूंढ लेगी शुहरत मुझको,

गुण होने ही से प्रसिद्धि प्राप्त होती है। पकड़ लाने की चेष्टा से वह नहीं मिलती!

कवित्व शक्ति किसी बिरले ही भाग्यवान् को प्राप्त होती है। यह शक्ति बड़ी दुर्लभ है। याद पड़ता है; बहुत पहले, 'सरस्वती' में एक लेख निकला था। नाम उसका था—कवि बनने के लिए सापेक्ष्य

साधन। उसमें इस बात का विचार किया गया था कि कवि यशोलिप्सुओं के लिये किन-किन साधनों के आश्रय की आवश्यकता होती है। ये साधन अनेक हैं। उनमें से मुख्य तीन हैं। प्रतिभा (अर्थात् कवित्व बीज) अध्ययन और अभ्यास। इनमें से किसी एक, और कभी-कभी किसी दो की कमी होने से भी मनुष्य कविता कर सकता है। परन्तु प्रतिभा का होना परमावश्यक है। बिना उसके कोई मनुष्य अच्छा कवि नहीं हो सकता। महाकवि क्षेमेन्द्र ने अपनी पुस्तक, 'कविकण्ठाभरण' में, थोड़े ही में इस विषय का अच्छा विवेचन किया है। वर्तमान कवियों को चाहिये कि वे उसे पढ़ें। स्वयं न पढ़ सकें तो किसी संस्कृतज्ञ से उसे पढ़वाकर उसका आशय समझ लें। ऐसा करने से, आशा है, उन्हें अपनी त्रुटियों और कमज़ोरियों का पता लग जायगा। कवित्वशक्ति होने पर भी पूर्ववर्ती कवियों और महाकवियों की कृतियों का परिशीलन करना चाहिये और कविता लिखने का अभ्यास भी कुछ समय तक करना चाहिये। 'छंदःप्रभाकर' में दिये गये छन्द रचना के नियम जानकर तत्काल ही कवि न बन बैठना और समाचार पत्रों के स्तम्भों तक दौड़ न लगाना चाहिये! क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि कवि बनने की इच्छा रखने वालों के तीन दरजे होते हैं—अल्प प्रयत्न साध्य, कृच्छ्रसाध्य और असाध्य-नमें से पहले दोनों के लिये भी बहुत कुछ अध्ययन, श्रवण, विचार और अभ्यास की जरूरत होती है। यह नहीं कि तेरह ग्यारह मात्राओं के दोहे का लक्षण जान लेते ही कविता की ओर दौड़े। अन्तिम, तीसरे दरजे के मनुष्यों के लिये क्षेमेन्द्र ने लिखा है—

वस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव
कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः।
तर्केन दग्धोऽनिलधूमिना वा
प्यविध्दकर्णः सुकवि प्रबन्धैः ॥ २२॥
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्या
च्छिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि
सन्दर्शितं पश्यति नार्कमन्धः ॥ २३ ॥

जिसका हृदय स्वभाव ही से पत्थर के समान है, जो जन्म रोगी है, व्याकरण घोखते घोखते जिसकी बुद्धि जड़ होगई है, तर्क और अग्निधूम आदि से सम्बंध रखने वाली फक्किकाएँ रटते रटते जिसकी मानसिक सरलता दग्ध सी हो गई है, महाकवियों की सुंदर कविताओं का श्रवण भी जिसके कानों को अच्छा नहीं लगता उसे आप चाहे जितनी शिक्षा दें और चाहे जितना अभ्यास करावें वह कभी कवि नहीं हो सकता। सिखाने से भी क्या गधा भैरवी अलाप सकता है ? अथवा दिखाने से भी क्या अन्धा मनुष्य सूर्यबिम्ब देख सकता है ?

अब आप ही कहिये कि जिहोंने कवित्वप्राप्ति विषयक कुछ भी शिक्षा नहीं पाई, जिन्होंने उस सम्बन्ध में वर्ष दो वर्ष भी अभ्यास नहीं किया और जिन्होंने इस बात का भी पता नहीं लगाया कि उनमें कवित्व शक्ति का बीज है या नहीं वे यदि बलात् कवि बन बैठें और दुनिया पर अपना आतङ्क जमाने के लिये कविता बिषयक बड़े बड़े लेक्चर झाड़ें तो उनके साहस, उनके कवित्व की प्रशंसा की

जानी चाहिये या उनके साहस उनके धाष्टर्य और उनके अविवेक की। उस दिन सत्रह अट्ठारह वर्ष का एक लड़का इस किङ्कर के पास आया। उसके बगल में उसकी लिखी हुई कोई डेढ़ दर्जन कविताओं के कागजों का एक बण्डल था। वे सब कविताएँ वह कुछ सभाओं में सुना चुका था। उनकी कापियाँ वह कुछ अखबारों को भी दे चुका था। उसे शब्दशुद्धि तक का ज्ञान न था। उसकी तुकबन्दियों में एक नहीं अनेक छन्दोभङ्ग तक थे। तथापि वह अपने मन से कवि बन बैठा था। बहुत कुछ कहने सुनने से उसने लघुकौमुदी पढ़ डालने का वचन दिया। आजकल ऐसे ही कवियों की धूम है। समाचार पत्रों और सामयिक पत्रिकाओं के सम्पादकों को भी, कई कारणों से निरुपाय होकर, ऐसों ही की कात-कृत को ग्रहण करना पड़ता है। इसी से कविता के एक विशेषज्ञ ने अपने हार्दिक उद्गार, अपने एक पत्र में इस प्रकार निकाले हैं—

"आजकल जो हिन्दी कविताएँ निकलती हैं उन्हें मैं अस्पृश्य समझकर दूर ही से छोड़ देता हूँ। पहले कुछ पढ़ीं; पर चित्त में दुःख हुआ। तब से उन्हें देखना ही बन्द कर दिया। आज-कल के कवि पुङ्गवों और उपन्यास लेखकों से तो जी ऊब उठा है। क्या कहें और किससे कहें ? सब से बड़ी मुश्किल तो यह है कि यदि कुछ समझाया जाय तो ये बदनसीब समझ ही नहीं सकते।" (यहाँ पर लेखक ने अपने पत्र में "बदनसीब" के पर्यायवाची एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया है जो बहुत कठोर है। अतएव यह नहीं लिखा गया !)

इस पर प्रार्थना इतनी ही है कि आजकल के सभी कवि ऐसे नहीं उनमें से दो चार सत्कवि भी हैं जिनकी रचना पढ़कर कोई भी सरस-हृदय कवित-प्रेमी आनन्दमग्न हुए विना नहीं रह सकता। इस बात के दो एक प्रमाण, आगे चलकर सोदाहरण दिये जायँगे।

अच्छा, कविता कहते किसे हैं ? इस प्रश्न का उत्तर बहुत टेढ़ा है। इसलिये कि इस विषय में आचार्य्यों और विशेषज्ञों में मतभेद है। कविता कुछ सार्थक शब्दों का समुदाय है, अथवा यह कहना चाहिए कि वह ऐसे ही शब्द समुदाय के भीतर रहनेवाली एक वस्तु विशेष है। कोई तो कहता है कि ये शब्द या वाक्य यदि सरस हैं तभी कविता की कक्षा के भीतर आ सकते हैं। कोई उनके अर्थ को रमणीयता सापेक्ष्य बतलाता है। कोई उनमें उनके भाव के अनूठेपन की पख लगाता है। कोई इन विशेषताओं के साथ शब्द शुद्धि, छंदः शास्त्र के नियमों के परिपालन और अलङ्कार आदि की योजना को भी आवश्यक बताता है। पर आप इन पचड़ों और झगड़ों को जाने दीजिये ! आप सिर्फ यह देखिए कि कोई पत्र लिखता, बोलता या व्याख्यान देता है तो दूसरे पर अपने मन का भाव प्रकट करने ही के लिये वह ऐसा करता है या नहीं। यदि वह इसलिये यह कुछ नहीं करता तो न उसे लिखने की जरूरत और न बोलने की। उसे मूक बनकर या मौन धारण करके ही रहना चाहिये। सो बोलने या लिखने का एक मात्र उद्देश्य दूसरों को अपने मनकी बात बताने के के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। जो अंगरेजी या बंगला भाषा नहीं जानता उसे इन भाषाओं की बढ़िया से बढ़िया कविता

या कहानी सुनाना बेकार है। जो बात या जो भाषा मनुष्य सबसे अधिक सरलता से समझ सकता है उसी बात या उसी भाषा की पुस्तक पढ़ने या सुनने से उसके हृदय पर कुछ असर पड़ सकता है। क्योंकि जब तक दूसरे का व्यक्त किया हुआ मतलब समझ में न आवेगा तब तक मनुष्य के हृदय में कोई भी विकार जाग्रत न होगा। पशुओं के सामने आप उत्तमोतम कविता का पाठ कीजिये। उन पर कुछ भी असर न होगा।

अतएव गद्य हो या पद्य, उसमें जो कुछ कहा गया हो वह श्रोता या पाठक की समझ में आना चाहिये। वह जितना ही अधिक और जितना ही जल्द समझ में आवेगा गद्य या पद्य के लेखक का श्रम उतना ही अधिक और उतना ही शीघ्र सफल हो जायगा। जिस लेख या कविता में यह गुण होता है उसकी प्रासादिक संज्ञा है। कविता में प्रसादगुण यदि नहीं तो कवि की उद्देश्य सिद्धि अधिकांश में व्यर्थ जाती है। कवियों को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये। जो कुछ कहना हो उसे इस तरह कहना चाहिये कि वह पढ़ने या सुनने वाले की समझ में तुरन्त आ जाय। इसे तो आप कविता का पहला गुण समझिये। दूसरा गुण कविता में यह होना चाहिये कि कवि के कहने के ढंग में कुछ निरालापन या अनूठापन हो—वह अपने मनके भाव को इस तरह प्रकट करे जिससे पढ़ने या सुनने वाले के हृदय में कोई न कोई विकार जाग्रत, उत्तेजित या विकसित हो उठे। विकारों का उद्दीपन जितना ही अधिक होगा कवि की कविता उतनी ही अधिक अच्छी समझी जांयगी। यह भी न हो तो उसकी कविता

सुनकर श्रोता का चित्त तो कुछ चमत्कृत हो। यदि कवि में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह दूसरों के हृदय को प्रभावान्वित कर सके तो कम से कम उसे अपनी बात ऐसे शब्दों में तो ज़रूर ही कहनी चाहिए जो कान को अच्छी लगे। कथन में लालित्य होना चाहिये, उसमें कुछ माधुर्य होना चाहिये। कविता के शास्त्रीय लक्षणों की परवा न करके जो कवि कम से कम इन तीनों गुणों में से, सब के न सही, एकही दो के साधन में सफल होने की चेष्टा करेंगे उन्हीं की कविता, न्यूनाधिक अंश में कविता कही जा सकेगी।

'आबे हयात' के लेखक, प्रोफेसर आज़ाद, ने संस्कृत भाषा में लिखे गये साहित्य-शास्त्र विषयक ग्रंथों का अध्ययन नहीं किया था। पर थे वे प्रतिभावन्-सहृदय और काव्य-प्रेमी। इसी से उन्होंने छोटी छोटी दो ही सतरों में सत्कविता का कैसा अच्छा निरूपण किया है—निरूपण क्या किया है, परमात्मा से उसकी प्राप्ति के लिये प्रार्थना की है। वे कहते हैं—

है इल्तिज़ा यही कि अगर तू करम करे।
यह बात दे ज़बाँ में कि दिल पर असर करे॥

देखिये उन्हें माल, मुल्क, प्रभुता, महत्ता, किसी की भी इच्छा नहीं। इच्छा सिर्फ़ यह है कि जो कुछ वे कहें उसका असर सुनने वाले के दिल पर पड़े। सत्कविता का सब से बड़ा गुण, सबसे प्रधान लक्षण यही है।

सत्कवियों की वाणी मे अपूर्व शक्ति होती है। वही श्रोताओं और पाठकों को अभिलषित दिशा की ओर खींचती और उद्दिष्ट विकारों को

उन्मज्जित करती है। असर पैदा करना—प्रभाव जमाना उसी का काम है। सत्कवि अपनी कविता के प्रभाव से रोते हुए को हँसा सकता है। हँसते हुए को रुला सकता, भीरुओं को युद्धवीर बना सकता है, वीरों को भयाकुल और मस्त कर सकता है; पाषाण हृदयों के भी मानस में दया का संचार कर सकता है। वह सांसारिक घटनाओं का इतना सजीव चित्र खड़ा कर देता है कि देखने वाले चेष्टा करने पर भी उसके ऊपर से आँख नहीं उठा सकते। जब वह श्रोताओं को किसी विशेष विकार में मग्न करना अथवा किसी विशेष दशा में लाना चाहता है, तब वह कुछ ऐसे भावों का उन्मेष करता है कि श्रोता मुग्ध हो जाते हैं और विवश से होकर कवि के प्रयत्न को बिना विलम्ब सफल करने लगते हैं। यदि वह उनसे कुछ कराना चाहता है तो करा कर ही छोड़ता है। सत्कवि के लिये ये बातें सर्वथा सम्भव हैं।

यदि किसी कवि की कविता में केवल शुष्क विचारों का विजम्भण है, यदि उसकी भाषा निरी नीरस है, यदि उसमें कुछ भी चमत्कार नहीं तो ऊपर जिन घटनाओं की कल्पना की गई उनका होना कदापि संभव नहीं, और यदि उसकी क्लिष्ट कल्पनाओं और शुष्क शब्दाडम्बर के भीतर छिपे हुए उसके मनोभाव श्रोताओं की समझ ही में न आये तो कोढ़ में खाज ही उत्पन्न हो गई समझिए। ऐसी कविता से प्रभावान्वित होना तो दूर उसे पढ़ने तक का भी कष्ट शायद ही कोई उठाने का साहस कर सके। बात यदि समझ ही में न आई तो पढ़ने या सुनने वाले पर असर पड़ कैसे सकता है! जो कवि

शब्दचयन, वाक्यविन्यास और वाक्य समुदाय के आकार प्रकार की काँट-छाँट में भी कौशल नहीं दिखा सकते उनकी रचना विस्मृति के अन्धकार में अवश्य ही विलीन हो जाती है। जिसमें रचना चातुर्य्य तक नहीं उसकी कवियशोलिप्सा विडम्बना मात्र है। किसी ने लिखा है—

तान्यर्थरत्नानि न सन्ति येषां
सुवर्ण सङ्घेन च येन पूर्णाः !
ते रीतिमात्रेण दरिद्रकल्पाः
यान्तीश्वरत्वं हि कथं कवीनाम् ?

जिसके पास न तो अर्थ रूपी रत्नही हैं और न सुवर्ण रूपी सुवर्ण समूह ही है वे कवियों की रीति मात्र का आश्रय लेकर काँसे और पीतल के दो चार टुकड़े रखने वाले किसी दरिद्रकल्प मनुष्य के सदृश भला कहीं कवीश्वरत्व पाने के अधिकारी हो सकते हैं ? "कविवर, कवि-चक्रवर्ती कविरत्न-आशुकवि और कवि सम्राट की सनद अपने नाम के आगे (और कभी कभी पीछे) लगाकर सर्वसाधारण की आँखों में धूल डालना जितना सरल है उतना शास्त्र सम्मत और सत्समालोचकों के सिद्धान्त के अनुसार कविवर तो क्या केवल कवि तक बनना कठिन है। कवित्व का महत्व काव्य-मर्मज्ञ ही समझता है।" यह फरवरी १९२७ की सरस्वती में प्रकाशित एक शास्त्री महाशय की सम्मति है, जो सर्वथा ठीक है।

आजकल जो लोग रहस्यमयी या छायामूलक कविता लिखते हैं, उनकी कविता से तो उन लोगों की पद्यरचना अच्छी होती

है जो देश प्रेम पर अपनी लेखनी चलाते या 'चलो वीर पटुआ खाली' की तरह की पंक्तियों की सृष्टि करते हैं। उनमें कविता के और गुण भले ही न हों पर उनका मतलब तो समझ में आ जाता है। पर छायावादियों की रचना तो कभी कभी समझ में भी नहीं आती। ये लोग बहुधा बड़े ही विलक्षण छंदों या वृत्तों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं। कोई छः पदे, कोई ग्यारह पदे। कोई तेरह पदे, किसी की चार सतरें गज़ गज़ भर लम्बी तो दो सतरें दो ही दो अंगुल की ! फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरख-धन्धा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के क़ायल, न ये पूर्ववर्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्ती, न ये सत्समालोचकों के परामर्श की परवा करने वाले ! इनका मूलमन्त्र है—हम चुनाँ दीगरेनेस्त। इस हमादानीको दूर करने का क्या इलाज़ हो सकता है। कुछ समझ में नहीं आता।

कविता नामधारिणी जो गूढ़ार्थ बोधक रचना करके ख्याति के अभिलाषी लेखकों को सचेत करने लिये श्रीयुत जन्ध्याल शिवन्न शास्त्री नाम के एक आन्ध्रदेशीय सज्जन ने, गत फरवरी की 'सरस्वती' में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं।

"आजकल की कविता का तो कोई निश्चित रूप ही नहीं...... विशेष करके आज कल युवक कवि 'मिस्टिक पोयट्री' (रहस्यमय-कविता) लिखते हैं। ये लोग अपने अनुभव के किसी पहलू को लेकर इतनी अस्पष्ट कविता लिखते हैं कि स्वयं लेखक के सिवा दूसरे की

समझ में वह नहीं आती। इनमें कई तो ऐसे भी लेखक हैं जो दूसरों को अपनी कविता का भाव भी नहीं समझा सकते। ऐसी कविताओं से क्या लाभ है, मैं नहीं जानता।"

इससे अधिक आश्चर्य की बात भला और क्या हो सकती है, कि स्वयं कवि भी अपनी कविता का मतलब दूसरों को न समझा सके। यह शिकायत शिवव्रतशास्त्री ही की नहीं और भी अनेक कविता प्रेमियों की है। ऊपर एक जगह, लखनऊ के एक साहित्य-शास्त्री के उलाहने का उल्लेख हो ही चुका है। अपने प्रान्त के नामी साहित्यसेवी, लेखक और सम्पादक रायसाहब बाबू श्यामसुन्दर दास जी क्या कहते हैं सो भी सुन लीजिये। उस दिन इलाहाबाद के कायस्थ-पाठशाला-कालेज के बोर्डिङ्ग हौस में हिन्दी साहित्य के विकास के सम्बन्ध में, उन्होंने एक अभिभाषण किया था। इसके सिलसिले में उन्होंने कहा—

"छायावाद और समस्यापूर्ति से हिन्दी कविता को बहुत हानि पहुँच रही है। छायावाद की ओर नवयुवकों का झुकाव है और ये जहाँ कुछ गुनगुनाने लगे कि चट दो चार पद को जोड़ कर कवि बनने का साहस कर बैठते हैं। इनकी कविताओं का अर्थ समझना कुछ सरल नहीं है। कविता लिखने के अनन्तर बेचारा कवि भी उसके अर्थ को भूल जाता है और उसके भाव तक को समझाने में असमर्थ हो जाता है। पूज्य रवींद्रनाथ का अनुकरण करके ही यह अत्याचार हिंदी में हो रहा है। इस कवि श्रेष्ठ की विद्या बुद्धि की समता करने में

असमर्थ होते हुए भी कुछ ऐसी बातें कह जाना जिनका कोई अर्थ ही न समझ सके ये कवि अपने कवित्व की पराकाष्ठा समझने लगे हैं !"

लीजिये, उसी पूर्वनिर्दिष्ट दोष को बाबू साहब भी दुहरा रहे हैं। व्यास ने महाभारत लिखा तो हम भी महाभारत लिखेंगे। होमर ने इलियड लिखा तो हम भी वैसा ही काव्य लिख डालेंगे। बात यह ? क्यों न ? यह इन कवियों के कवित्व की पराकाष्ठा तो नहीं अविवेक की पराकाष्ठा अवश्य है।

कल्पना कीजिये की कवि चक्रचूड़ामणि चन्द्र चूड़ चतुर्वेदी, छायात्मक कविता के उपासक हैं। आपको विश्वविधाता के रचना चातुर्य का वर्णन करना है। यह काम वे प्रत्यक्षरीति पर करना चाहते नहीं इसलिये उन्होंने किसी माली या कुम्भकार का आश्रय लिया और लगे उसके कार्य्य-कलाप की खूबियों का चित्र उतारने। अब उस माली या कुम्हार की कारीगरी का वर्णन न सुनकर प्रतिपद, प्रतिवाम, प्रतिपद्य में ब्रह्मदेव की कारीगरी का यदि भान न हुआ तो कवीश्वर जी अपनी कृति में कृतकार्य कैसे समझे जा सकेंगे। इस तरह का परोक्ष वर्णन क्या अल्पायास-साध्य होता है ? क्या यह काम किसी ऐसे-वैसे कवि के बूते का है ? रवीन्द्रनाथ ने जो काम कर दिखाया है वह क्या सभी ऐरे ग़ैरे कर दिखा सकते हैं ? जब ये लोग अपने लेख का भाव कभी कभी स्वयं ही नहीं समझा सकते तब दूसरे उसे कैसे समझ सकेंगे ? अफ़सोस तो इस बात का है कि ये इतनी मोटी मोटी बातें भी इनके ध्यान में नहीं आतीं। कविता का सबसे बड़ा

गुण है उसकी प्रासादिकता। वही जब नहीं तब कविता सुनकर श्रोता रीझ किस तरह सकेंगे और उसका असर उन पर होगा क्या खाक!

लेख बढ़ रहा है! इससे अब इसका संवरण करना पड़ेगा। यहाँ तक जो कुछ लिखा गया उसकी पूर्ति के लिये अच्छी और बुरी कविता के अब केवल दो चार उदाहरण देना शेष है। ये उदाहरण हम उन्हीं सामयिक तथा अन्य पुस्तकों से देंगे जो हमारे सामने हैं और जो अभी हाल ही में प्रकाशित हुई हैं। पाठक यह न समझें कि ये उदाहरण ढूँढ़ ढूँढ़ कर परिश्रमपूर्वक चुने गये हैं।

एक कविता का नाम है—"तब फिर?" जरा इस नाम की विलक्षणता पर भी ध्यान दीजियेगा। कविता नीचे देखिये—

तब फिर कैसा होगा भाव!

धीरे धीरे पक्षहीन जब हो जावेगा यह द्विज दल?
डाल डाल में शाल शाल में उड़ न सकेगा उच्छृंखल?
म्लान पुष्प सा झर जावेगा जब यह भी निर्बल, निश्चल!
नहीं गा सकेगा मृदुस्वर से प्रथम रश्मि का स्वागत कल?

यह तो करता है उत्पात!

अति अनन्त नभ की नीरवता यह शब्दित कर हरता है,
विमल वायु का कोमल मानस उड़ उड़ कंपित करता है,
मेरे सुन्दर धनुष बाण में समुद बैठते डरता है॥
इसे बुलाने पर भी तो यह कभी न निकट विचरता है,

इसे नहीं यह अब तक ज्ञात—

जब तुम मुझको बैठाती हो कंटक-दलके आसन में,
उसे ग्रहण करती हूँ तब मैं कितनी प्रमुदित हो मन में
सरल फूल से हो जाते हैं स्वकर्तव्य के पालन में;
क्या न बनी थी पुरी अयोध्या पंचवटी के भी वन में !

पाठक कृपापूर्वक बतलावें कि इस गोरखधंधे से वे क्या समझे। डरता, विचरता, हरता और हो जावेगा, झट गा सकेगा, जासकेगा आदि-पहले दो खंडों की क्रियाओं का कर्ता तो 'द्विजदल' जान पड़ता है। तीसरे खण्ड में 'तुम' किसके लिये आया है और 'ग्रहण करती हूँ' यह स्त्रीलिंग क्रिया किसकी है ? फिर धनुष में (धनुष के भीतर) कोई कैसे घुसकर बैठ सकता है। हां उसके ऊपर पक्षी अवश्य बैठ सकते हैं। खैर इन बातों को आप जाने दीजिये, क्योंकि वैसे तो इसमें अनेक विचित्रताएँ हैं। अच्छा कवि का भाव क्या है यह बताइए और इन सतरों को पढ़कर आप पर कुछ असर भी हुआ या नहीं यह कहिये। क्या यह शब्दाडम्बर ही मात्र नहीं ? क्या इसके पाठ से आपका हृदय कुछ भी चमत्कृत हुआ ? किसी कविता में यदि कुछ हृदयहारी भाव न हो तो कमसे कम वह श्रुतिसुखद तो होनी चाहिये। यदि उसमें कुछ चमत्कार हो तो वह भी अच्छा। चमत्कार को भी अच्छी कविता का एक अंग समझना चाहिये। क्षेमेन्द्र ने लिखा है:—

ऐकेन केनचिदनर्घ्यमणिप्रभेण
काव्यंचमत्कृतिपदेनबिना सुवर्णम्,
निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते
लावण्य हीनमिव यौवनमङ्गनानाम् ॥

काव्य चाहे सब प्रकार निर्दोष ही क्यों न हो और चाहे वह सुवर्णाभरण से अलंकृत ही क्यों न हो यदि उसमें बहुमूल्य मणि के सदृश कोई चमत्कार उत्पन्न करने वाला पद नहीं तो कामिनियों के लावण्यहीन यौवन के सदृश भला वह किसे अच्छा लगेगा ?

द्विज का अर्थ है दाँत, पक्षी और ब्राह्मणादि वर्णत्रय। कविता में उड़ने और गाने का उल्लेख है। उससे सूचित है कि कविता के पहिले ही खण्डों में कवि किसी पक्षी की बात कह रहा है। पर अन्तिम खण्ड में उसने जो कुछ कहा है उससे उसके मन की बात ध्यान में नहीं आती। यदि ऐसी नीरस और अभावनीय सतरें भी कविता कही जा सकेंगी तो नीचे की व्यर्थ बक भी कविता क्यों न समझी जाय—

सिंघलद्वीप की पद्मिनी सब भुजावन जायँ।
कोठे पर तें गिर पड़ीं का स्वैहो कोहू का खेत।

अब आप एक सत्कवि की सीधी-सादी कविता सुनिये। कवि भगवान् मुरली मनोहर से विनय करता है—

होता दिन रात जहाँ तेरा दिव्य गुण-गान,
मन से कदापि जहाँ छूटता न तेरा ध्यान।
सुनते जहाँ हैं सब नित्य ही लगाके कान,
तेरी मनोहारी मृदु मंजु मुरली की तान।
सुखसे सदैव तेरे प्रेमी जन भाग्यवान।
करते जहाँ हैं तेरा रम्यरूप-रस-पान।
विनय यही है वहीं तनिक मुझे भी स्थान।
करदे प्रदान दया करके दयानिधान।

कौन ऐसा सरस हृदय श्रोता होगा जो यह कविता सुनकर लोट-पोट न हो जाय। भगवद्भक्त तो इसे सुनकर अवश्य ही मुग्ध हो जायँगे। अन्य रसिकों पर भी इसका असर पड़े बिना न रहेगा। कितनी ललित प्रसाद पूर्ण और कर्ण मधुर रचना है। इसमें जो भाव निहित है वह सुनने के साथ ही समझ में आ जाता है। यह इसमें सब से बड़ी ख़ूबी है।

एक और उदीयमान बुध या बृहस्पति आदि ग्रहों के सदृश नहीं, सूर्य के सदृश छायावादी कवि की कविता सुनिये। इस कविता का नाम है 'आया!' याद रहे; यह आश्चर्यसूचक चिन्ह भी कवि का ही दिया हुआ है—

ज्यों प्रदीप का अन्त हुआ तू अन्धकार के सङ्ग अहा!
आगया मलयानिल सा, क्या इस तम तरंग में छिपा रहा।

× × × ×

घोर निविड़ में तू आवेगा यदि कोई यह बतलाता।
इस दीपक का मेरे द्वारा, अन्त कभी का हो जाता॥

× × × ×

जो हो आओ रिक्तकरों से तेरा स्वागत करता हूँ,
जिसे हृदय में रक्खा था तब वह चरणों पर रखता हूँ।

इस गूढ़ार्थ में भी कवि की वह चीज़ अब पाठक ही ढूँढ़ने की तकलीफ गवारा करें जिसे वह अपने हृदय में, दीपक बुझने के समय तक, छिपाये बैठा था। इस कविता का पहला खंड पढ़कर छन्दःशास्त्र को तो किसी नदी या समुद्र में डूब मरना चाहिये।

यह 'घोर निविड़' क्या चीज़ है? अन्धकार तो कहीं उस पंक्ति में ही नहीं। कवि का हृदय ही घोर और निविड़ हो तो हो सकता है। ऐसी ही कविता लिखकर हिन्दी के कुछ कवि अपने को धन्य मान रहे हैं।

इसके मुक़ाबले में अब आप एक पुराने कवि की कविता का आस्वादन कीजिये—

सुदामा तन हेरे तौ रंक हू ते राव कियौ—
विदुर तन हेरे तौ राजा कियौ चेरे तें।
कुबरी तन हेरे तौ सुन्दर सुरूप दियौ
द्रौपदी तन हेरे तौ चीर बढ़्यो टेरे तें।
कहै छत्रसाल प्रहलाद की प्रतिज्ञा राखी
हर्नाकुस मार्‌यो नेक नज़र के फेरे तें।
येरे अभिमानी गुरु ज्ञानी भये कहा भयौ
नामी नर होत गरुड़गामी के हेरे तें॥

इस पर सहृदयों से प्रार्थना इतनी ही है कि वही इसका फ़ैसला करें कि किसे वे कविता समझते हैं—इस ऊपर के अवतरण को या छायावादी कवि की 'छाया'! को।

अब डंके की चोट अपने बी. ए. पास होकर निकलने की ख़बर सुनने वाले एक और कवि की करामात देखिये। आपकी कविता का नाम है 'ज्वार'। ज्वार से मतलब इस नाम के अन्न से नहीं समुद्र में उठने वाले ज्वार भाटे के ज्वार से है। कविजी के विशाल हृदय सागर में ज्वार उठने पर आपनें जो कुछ फरमाया है वह यह है—

हृदय हमारा उमड़ रहा क्यों
उड़ता है कैसा तूफ़ान !
उथल पुथल यह मचा रहा क्यों ?
और उठाता (क्यों ?) मधुर उफ़ान ? ॥ १ ॥

दुख की अन्तिम घड़ियों का मैं
देख रहा हूँ क्या यह अन्त ?
छिपा हुआ है इस पतझड़ में ?
क्या जीवन का नवल 'वसन्त' ? ॥ २ ॥

आता है क्या 'वह' मिलने को ?
मचल रहा तू जिसको जान;
संभल ! कहीं तू भूल न जाना !
लखकर दोनों रूप समान ॥ ३ ॥

इसमें प्रश्नचिह्न, आश्चर्यचिह्न, कामा इत्यादि जितने हैं सब कविजी ही के दिये हुए हैं। या सम्भवः है, प्रेस के कर्मचारियों की कृपा से कुछ कूद पड़े हों। पाठक, इसमें ज्वार, तूफ़ान, वसन्त, पतझड़ आदि की विभूति से विभावान्वित होकर कविजी से आप संभल कर पूछिये कि वे दो समान रूप किस किसके हैं। कवियों की वाणी में रस और चमत्कार होता है। वे पहेलियाँ नहीं बुझाते। नीरस बात को भी वे सरस ढंग से कहते हैं। वे मुर्दा शब्दों में भी जान डाल देते हैं। साधारण अर्थ में भी असाधारणता पैदा कर देते हैं। यदि कोई कहे—राहु नाम के राक्षस को मारने वाले विष्णु भगवान् को नमस्कार

है—तो कवि उसे फटकार बता देगा। वह कहेगा क्या बकते हो! अपनी बात को इस तरह कहो—

नमस्तस्मै कृतौ येन मुधाराहुवधूकुचौ

सत्कवियों की इस सरस वाणी को देखिये और बी० ए० पास के प्रयुक्त शब्दों के तूफान में पड़कर हिन्दी साहित्य के सौभाग्य की प्रशंसा कीजिये।

पाठक शायद कहें कि ऊपर अच्छी कविता के जो दो नमूने दिये गये हैं उनमें भक्ति-भाव का प्रदर्शन है। इसी कारण वे श्रोताओं पर अपना प्रभाव डालते हैं। अच्छा तो जिससे यह बात नहीं ऐसी भी एक सत्कविता सुन लीजिये। हाँ, उसके लिये स्थितिस्थान से उठकर एक पुस्तक उठानी पड़ेगी। पर हर्ज़ नहीं। देखिये एक कवि अन्य कवियों से कहता है--

मृत जाति को कवि ही जिलाते रस-सुधा के योग से,
पर मारते हो तुम हमें उलटे विषय के रोग से।
कवियो! उठो अब तो भला कवि-कर्म की रक्षा करो,
सब नीच भावों का हरण कर उच्च भावों को भरो।

इसमें और कुछ गुण हो या नहीं पर इसमें व्यक्त किया गया कविका हृद्भाव झट ध्यान में तो आ जाता है।

कविजन विश्वास रक्खें कवियों के इस किङ्कर ने इस लेख में कोई बात द्वेष-बुद्धि से नहीं लिखी। जो कुछ उसने लिखा है; हित-चिन्तना ही की दृष्टि से लिखा है। फिर भी यदि कोई बात किसी को बुरी लगे तो वह उसे उदारतापूर्वक क्षमा कर दे—

आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं
मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य।
पादाम्बुजं भवतु तेविजयाय मञ्जु
मञ्जीर शिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः।

महिषासुर के सिर ने जिसकी कठोर ठोकर खाई है और आनन्दमग्न पुरन्दर ने जिस पर फूलमाला चढ़ाई है, नूपुरों की मधुर-ध्वनि करने वाला, भगवती अम्बिका का वही पादपद्म, हिन्दी के छायावादी तथा अन्य कवियों को इतना बल दे कि वे अपने असद्विचारों को हराकर उनपर सदा विजयप्राप्ति करते रहें। अन्त में इस किङ्कर की यही कामना है।



पं० पद्मसिंह शर्मा

शर्माजी विजनौर जिला, नगवा के रहने वाले थे। आपका जन्म वि० संवत १९३१ में तथा निधन १९८९ में हुआ। आप हिन्दी, संस्कृत और फ़ारसी के बड़े विद्वान थे। आर्य प्रतिनिधि सभा के आप कई वर्ष तक उपदेशक भी रहे। कई वर्षों तक आप ज्वालापुर महाविद्यालय के अध्यापक भी रहे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मुजफ्फरपुर वाले अधिवेशन के आप सभापति थे

हिन्दी के गद्य लेखकों में आपका स्थान काफ़ी ऊँचा है। 'पद्मपराग' और 'प्रबन्ध मञ्जरी' आप के लेखों के संकलन हैं। आपकी भाषा चलती हुई और मुहावरों से युक्त है।

हिन्दी में तुलनात्मक समाचोचना के आविष्कर्ता आपही हैं। हिन्दी के प्राचीन कवियों में आपने बिहारी को उच्चस्थान दिया है। बिहारी के दोहों की तुलना एक तरफ संस्कृत के गाथा और आर्यासप्तशती से की गई है और दूसरी तरफ़ उर्दू हिन्दी कवियों से। बिहारी की श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिये शर्मा जी वकीलों की-सी बहस करते हैं। आपने आलोचना में भाषा के गुण-दोष, रस, अलंकार आदि पर ही विशेष ध्यान दिया है। आपकी आलोचना बड़ी मनोरंजक और विद्वत्ता पूर्ण है। आपका महत्व हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना के स्रष्टा के रूप में सदा बनी रहेगी।

सतसई का उद्भव

"सतसई" और "सतसैया" शब्द संस्कृतके "सप्तशती" और "सप्तशतिका" शब्दोंके रूपांतर हैं, जो "सात सौ पद्यों का संग्रह" इस अर्थ में कुछ योगरूढ़ से हो गये हैं।

बिहारी से पूर्व दो सप्तशती प्रसिद्ध थीं, एक प्राकृत में सातवाहन संग्रहीत "गाथा सप्तशती" और दूसरी संस्कृतमें गोवर्धनाचार्य प्रणीत "आर्यासप्तशती"। यद्यपि श्री "मार्कण्डेय पुराणांतर्गत" "दुर्गा सप्त-शती" भी एक सुप्रसिद्ध सप्तशती है, पर नाम सादृश्य के अतिरिक्त अन्य विषयमें समालोच्य सतसईसे उससे कुछ भी साम्य नहीं है इस-लिये इस सतसंगमें उसकी चर्चा चलाना अनावश्यक है। गाथा-सप्त-शती और आर्या-सप्तशती ये दोनों ही अपने २ रूपमें निराली और अद्वितीय हैं। ये सदा से सहृदयों के हृदयहार रही हैं। इनमें "गाथा सप्तशती" ने विवेचक विद्वानों से अत्यधिक आदर पाया है। उसकी आधी से अधिक गाथायें साहित्य के आकर ग्रंथोंमें उद्धृत हैं। ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य श्री आनंदवर्धनाचार्य ने अपने "ध्वन्यालोक" में, वाग्देवतावतार श्री मम्मटाचार्य ने "काव्य प्रकाश" में और भोजदेव ने "सरस्वती कण्ठाभरण" में गाथा सप्तशती की अनेक गाथाएँ ध्वनि और व्यंजनाके उत्कृष्ट उदाहरणों में उद्धृत करके गाथाओंकी सर्व-श्रेष्ठता प्रमाणित कर दी है। ये प्राकृत गाथाएँ वास्तवमें प्राचीन साहित्य समुद्रमें अनर्घ रत्न हैं। इन प्राचीन प्राकृत रत्नोंके मुक्तावलि में

अनेक संस्कृत रत्नोंकी रचना समय समय पर हुई, पर इनकी चमक दमक के सामने उनकी ज्योति नहीं जमी। "प्राकृत" भावों को प्रकट करने के लिये प्राकृत भाषा ही समुचित साधन है। "आर्या सप्तशती" के कर्ता गोवर्धनाचार्य ने इस बात को स्पष्ट ही स्वीकार किया है:—

वाणी प्राकृतसमुचित रसावलेनैव संस्कृतं नीता।
निम्नानुरूपनीरा कलिंदकन्येव गगनललाम॥

(आ० स० ५२)

अर्थात्

वाणीका कुछ स्वभाव है कि वह प्राकृत काव्यमें ही सरसता को प्राप्त होती है और मैं उसे बलात्कर से संस्कृत बना रहा हूँ— उलटी गंगा बहा रहा हूँ—इसलिये यदि वैसी (प्राकृतके समान) स्वाभाविक सरसता इसमें न आ सके तो क्षंतव्य है। बलात्कारमें रस कहाँ? इस प्रकार खुले शब्दों में प्राकृत की प्रशंसा करने वाले गोवर्धनाचार्य कोई साधारण कवि न थे, जगत्प्रसिद्ध गीतिकाव्य "गीतगोविंद" के निर्माता जयदेव ने उनके विषय में कहा है।

"शृंगारोत्तर सत्प्रमेय रचनैराचार्य गोवर्धनस्पर्धीकोऽपि न विश्रुतः"

अर्थात् शृंगार रस प्रधान उत्कृष्ट कविता करने में आचार्य गोवर्धन का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं सुना गया। उनके समान शृंगार रस की रचना में निपुण कवि और कोई नहीं है। गोवर्धनाचार्य ने स्वयं भी अपनी रचना की जी खोलकर प्रशंसा की है, जो रचना सौन्दर्य को देख कुछ अनुचित नहीं।

मसृणपदरीतिगतः सज्जनहृदयाभिसारिकाः सुरसाः
मदनाद्वयोपनिषदो, विशदागोवर्धनस्यार्याः ॥

(आ० स० ५१)

"गाथा सप्तशती" के अनुकरण में गोवर्धनाचार्य से पहले (और उनके पश्चात् भी) कुछ संस्कृत कवियों ने आर्या छंद में इस ढंग की काव्य रचना की थी, जिसकी ओर गोवर्धनाचार्यने कई जगह इशारा किया है। पर "आर्या सप्तशती" के सामने उनमें से एक न ठहर सकी।

गोवर्धनाचार्य के समान शृङ्गारी कवियोंमें एक 'अमरुक' कवि और हैं जिनका "शतक" हजारों में एक है, जिसकी अपूर्वता पर मुग्ध होकर साहित्य परीक्षकों ने "अमरुक कवेरेकश्लोक प्रबंध शतायते" कह दिया है अर्थात् अमरुक कविका एकएक श्लोक एकएक ग्रंथके समान गंभीर भावोंसे भरा है। जिस शैली पर "प्राकृत गाथा सप्तशती" "अमरुक शतक" और "आर्यासप्तशती" की रचना हुई है उसे साहित्य की परिभाषामें 'मुक्तक' कहते हैं। "ध्वन्यालोक" के तृतीय उद्योतमें काव्यके भेद गिनाते हुए श्री आनंद वर्धनाचार्य ने "मुक्तकं संस्कृत प्राकृतापभ्रंशनिर्वद्धम्" कहकर मुक्तकके भाषा भेद से तीन भेद किये हैं। अर्थात् संस्कृत निवद्ध, प्राकृत निवद्ध और अप-भ्रंश निबद्ध।

"मुक्तक" पद की व्याख्या श्री अभिनव गुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार की है ! "मुक्तमन्येन. नाणींगितं तस्या संज्ञायां कन्" "पूर्वापर निरपेक्षेणापिध्हि येन रसचर्वणं क्रियते तदेव मुक्तकम्" अर्थात् अगले

पिछले पद्योंसे जिसका संबंध न हो अपने विषयको प्रकट करनेमें समर्थ हो ऐसे पद्य को मुक्तक कहते हैं। जिस अकेले पद्य में विभाव अनुभाव आदि से परिपुष्ट इतना रसभरा हो कि उसके स्वाद से पाठक तृप्त हो जायँ, सहृदयता की तृप्ति के लिये उसे अगली पिछली कथा का सहारा न ढूँढ़ना पड़े ऐसे अनूठे पद्य का नाम मुक्तक है। इसी का नाम "उद्भट" भी है। हिन्दी में इसे फुटकर कविता कहते हैं। इसी प्रकार के पद्य जिसमें संग्रहीत हों उसे "कोष" कहते हैं। मुक्तक की रचना कविता शक्ति की पराकाष्ठा है। महाकाव्य, खण्डकाव्य या आख्यायिका आदि में यदि आपका क्रम अच्छी तरह बैठ गया तो बात निभ जाती है, कथानक की मनोहरता पाठक का ध्यान कविता के गुणदोष पर प्रायः नहीं पड़ने देती। कथा काव्य में हजार में दस बीस पद्य भी मार्के के निकल आये तो बहुत हैं। कथानक की सुंदर संघटना, वर्णन शैली की मनोहरता और सरसता आदि के कारण कुल मिलकर काव्य के अच्छेपन का प्रमाणपत्र मिल जाता है। परन्तु "मुक्तक" की रचना में कविको "गागर में सागर" भरना पड़ता है। एक ही पद्यमें अनेक भावों का समावेश और रस का सन्निवेश करके लोकोत्तर चमत्कार प्रगट करना पड़ता है। ऐसा करना साधारण कविका काम नहीं है। इसके लिये कविका सिद्धसरस्वतीक और वश्यवाक् होना आवश्यक है। "मुक्तक" की रचना में रस की अक्षुण्णता पर कवि को पूरा ध्यान रखना पड़ता है। और यही कविता का प्राण है। जैसा कि मुक्तक के संबंध में आनंदवर्धनाचार्य लिखते हैं—

मुक्तकेषु हि प्रबंधेष्विव रस बन्धाभिनिवेशिनः
कवयो दृश्यंते । यथा ह्यमरुकस्य कवेःमुक्तकाः
शृंगार रसस्यादिनः प्रबंधायमानाः प्रसिद्धाएव

अर्थात् एक ग्रंथ में जिस रसस्थापन का पूरा प्रबन्ध कविको करना पड़ता वही बात कवि को एक मुक्तक में लाकर रखनी पड़ती है, जिस प्रकार अमरुक कविके 'मुक्तक' शृंगार रस का प्रवाह बहाने के कारण प्रबंध की (ग्रंथ की) समता प्राप्त कर लेने में प्रसिद्ध है। मुक्तक में अलौकिकता लाने के लिये कविको अभिधा से बहुत कम और ध्वनि व्यंजना से अधिक काम लेना पड़ता है यही उसके चमत्कार का मुख्य हेतु है। इस प्रकार के रस ध्वनिपूर्ण काव्य के निर्माता ही वास्तव में महाकवि पद के समुचित अधिकारी हैं। फिर उनकी रचना परिणाम में कितनी ही परिमित क्यों न हो,

प्रतीयमानंपुनरन्यदेव वस्त्वास्ति वाणीषुमहाकवीनाम्
यत्तत्प्रसिद्धा वयवाऽतिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु

(ध्वन्यालोक—१+४)

अर्थात् महाकवियों की वाणी में अभिधीयमान-वाच्य अर्थ से अतिरिक्त 'प्रतीयमान'-अर्थ एक ऐसी चमत्कारक वस्तु है जो कुछ इस प्रकार चमकती है जिस प्रकार अंगना के अंग में मस्तक पादादि प्रसिद्ध अवयवों के अतिरिक्त लावण्य। इस कारिका के "महाकवीनाम्" पद की व्याख्या करते हुए श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य लिखते हैं:—

प्रतीयमानानुप्राणितकाव्यनिर्माणनिपुणप्रतिभाभाजन तेनैव महाकविव्यपदेशो भवतीति भावः—अर्थात् प्रतीयमान अर्थ से युक्त

काव्य निर्माण की जिनमें शक्ति है वही महाकवि कहलाने के अधिकारी हैं। इस निर्णय के अनुसार 'महाकवि' कहलाने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि साहित्यदर्पणादि में वर्णित लक्षणों से युक्त महाकाव्य का कोई बड़ा पोथा बनावे तभी "महाकवि" कहलावे। राजशेखर ने तो इस प्रकार के रसस्वतंत्र कवि को 'महाकवि' से भी बड़ी 'कविराज' की पदवी दी है। यथा—

"यस्तु तत्र तत्र भाषा विशेषे तेषु प्रबन्धेषु तस्मिस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये।"

हमारे बिहारी जगत् के उन्हीं कतिपय कविराजों में से है। बिहारी के सम्बन्ध में लेख लिखते हुए अब तक जो कुछ यह ऊपर लिखा गया सो सरसरी तौर से अप्रासङ्गिक सा प्रतीत होगा, पर ऐसा नहीं है; इसकी यहाँ आवश्यकता थी। हमें अभी आगे चलकर 'गाथा सप्तसती' 'आर्या सप्तशती' और 'अमरुक शतक' से खास तौर पर बिहारी सतसई की तुलना करनी है, यदि इस तुलना में बिहारी पूरे उतर जाँय अर्थात् बिहारी की कविता इनकी बराबरी की या कहीं इनसे बढ़ी चढ़ी सिद्ध हो जाय, इनके मुकाबिले में उसका पलड़ा कहीं झुक जाय तो जो बात सिद्ध होगी। उसे क्या भूमिका वृत्त में कहने की आवश्यकता होगी मैं डरता हूँ कि 'देववाणी' वाले देवता लोग मुझे भाषा का अनुचित पक्षपाती, छोटा मुँह बड़ी बात कहने वाला 'विभीषण' आदि पवित्र पदवियों का पात्र बनाकर शाप और अभिशाप की वर्षा न करने लगें। पेशगी दुहाई है 'सहृदयता की' !! मेरा ऐसा अभिप्राय स्वप्न में भी नहीं है, मैं अपने परमाराध्य प्रातः

स्मरणीय संस्कृत कवियों की निन्दा करने नहीं चला हूँ, उनमें मेरी अविचल भक्ति है, अशिथिल श्रद्धा है। मेरे स्वाध्यायसमय का अधिक भाग संस्कृत साहित्य के अनुशीलनानुराग में ही व्यतीत हुआ है। अधिक समय नहीं बीता है तबतक हिन्दी कविता के विषय में मेरी धारणा भी कुछ ऐसी ही थी। हिन्दी भाषा की कविता में भी ऐसा मनोमोहक चमत्कार हो सकता है, इसका विश्वास नहीं था।

चिरसञ्चित अज्ञानान्धकार को विहारी के कविता-प्रकाश ने अचानक आकर विच्छिन्न कर दिया। मैंने विहारी के काव्यको बड़े ध्यान और अवधान से पढ़ा, पढ़ा क्या उसने बलात् ऐसा करने के लिये विवश कर दिया। अनेक बार पढ़ा, तुलनात्मक दृष्टि से देखा, उसकी तुलना संस्कृत प्राकृत और उर्दू, फारसी की कविता से भी अनुवृत्ति-लनके इस संघर्ष में विहारी का रंग और भी पक्का होता गया। वह हृदय मन्दिर में संस्कृत कवियों के बराबर आसन जमाकर बैठ गया। अपने शुभकर्मवर्तित विचारों की सूचना मैंनें अपने कई संस्कृतज्ञ विद्वान मित्रों को दी, विहारी की कविता सुनाकर जानना चाहा कि ऐसा समझना कहीं मेरा मतिभ्रम तो नहीं है। विहारी ने कहीं यदाखलत-बेजा से तो यह मेरे दिल पर कब्जा नहीं कर लिया है? मुझे सुनकर संतोष हुआ कि नहीं ऐसा नहीं है, मैने गलती नहीं की है, ऐसा होना स्वभाविक है, नितान्तंत्या है। विहारीने दिल में जो जगह की है वह उसका कुदरती हक है। इसमें जौबराबर भी जियादती नहीं हुई है।

ऐसी दशा में महाशय! यदि मैं विहारी के विषय में कुछ कहने

लगा हूँ तो सच समझिये केवल इसी विचार से कि ऐसे अवसर पर चुप रहना सहृदयता के हृदय में चुभने वाला असह्यशल्य है, अक्षम्य अपराध है। कवितार्किक-शिरोमणि श्रीहर्ष की आज्ञा है—

"वाग्जन्म वैफल्य मसह्यशल्यं
गुणाधिके वस्तुनिमौनता चेत् ।"

पहले समय में संस्कृतज्ञ विद्वानों ने सतसई पर संस्कृत के गद्य पद्य में तिलक और अनुवाद करके अपनी गुणग्राहिता प्रकट की है सही, पर इससे संस्कृतज्ञों में सतसई का यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ, ऐसे अनुवादों द्वारा कविताका मूलतत्व अवगत करना असम्भव है। वास्तवमें कविता अनुवाद करनेकी चीज़ है ही नहीं, अनुवाद में आधे से अधिक सौष्ठव कविता का नष्ट हो जाता है। रस निकल जाता है छिलका रह जाता है। एक भाषा की कविता दूसरी भाषा में आकर कविता नहीं रहती। यह शराब अपने मटके से निकली और सिरका हुई; यह राग एक गले से दूसरे गले में उतारतेही वेसुरा हो जाता है। यह प्रतिबिम्ब एक दर्पण से दूसरे में आया और परछाईं बनकर रह गया। गोवर्द्धनाचार्य जैसे महाकवि जब इसमें अपनी अक्षमता स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं तब आधुनिक अनुवादकों पर क्या आस्थाकी जा सकती है। संस्कृत भाषा के माधुर्य में किसी को कलाम नहीं है, पर ब्रजभाषा का माधुर्य भी एक निराली चीज़ है, वह 'सितोपला' तो यह 'द्राक्षा' है। बिहारी शृंगारी कवि भाषा 'ब्रजभाषा' शृंगाररसकी कविता *(शृंगारी चेत्कविकाव्ये गातं रसमयं जगत्)* अहो लयपरंपरा! इसका आस्वादन कर चुकेनेपर भी यदि चित्तावृत्ति कुसंस्कार वश

यह अन्यत्र रसास्वादन के लिये जाना चाहती है तो सहृदयता बिहारी के शब्दों में मचलकर कहती है—

*"जीभ निबौरी क्यों लगै, बौरी ! चाखि अंगूर" इसलिए

"जो कोउ रसरीति को, समझो चाहै सार।
पढ़ै बिहारी सतसई, कविता को सिंगार॥"

---

* "तो रस राच्यो आन बस, कह्यो कुटिलमति कूर।
जीभ निबौरी क्यों लगै, बौरी चाखि अंगूर॥"

कवि ने यह अपनी कविता कामिनी की ओर ही बड़े मार्मिक ढङ्ग से इशारा किया प्रतीत होता है।



पं० कृष्णबिहारी मिश्र

मिश्रजी का जन्म वि० सं० १९४२ में हुआ। आपका निवास स्थान गिधौली, सीतापुर में है। आपने हिन्दी साहित्य में सम्पादक और समालोचक के रूप में प्रवेश किया। आप कई वर्षों तक 'माधुरी' के सम्पादक रहे और 'समालोचक' नामक पत्र निकालते रहे। आपने मतिराम-ग्रन्थावली का भी सुन्दर सम्पादन किया है।

देव और बिहारी के प्रश्न को लेकर आपने एक समीक्षा पुस्तक लिखी। मिश्रबन्धुओं ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' में देव को बहुत ही ऊँचा स्थान दिया था। पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी' को ब्रजभाषा का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध किया। उसी के उत्तर में मिश्रजी ने यह पुस्तक लिखी। इसमें देव को बिहारी से ऊँचा सिद्ध किया गया है। दोनों कवियों के काव्य की तुलना मार्मिकता से की गई है। मिश्रजी की दृष्टि में बिहारी ने केवल कविता की है परन्तु देव जी ने कविता-रीति-प्रदर्शक ग्रन्थों की भी रचना की है।

इस पुस्तक के द्वारा हिन्दी में तुलनात्मक समालोचना का काफी प्रचार और प्रसार हुआ। पुस्तक बड़ी ही शिष्टता के साथ लिखी गई है।



देव और विहारी की तुलना

१—विषमतामयी

हमारे उभय कविवरों ने शृँगार-वर्णन में कवित्व-शक्ति को परा-काष्ठा पर पहुँचा दिया है, कहीं कहीं पर तो उनके ऐसे वर्णन पढ़ कर अवाक् रह जाना पड़ता है। पाठकों के मनोरञ्जन के लिये यहाँ पर दोनों कवियों की पाँच-पाँच अनूठी उक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं। ध्यान से देखने पर जान पड़ेगा कि एक कवि की उक्ति दूसरे कवि की वैसी ही उक्ति की पूर्ति बहुत स्वाभाविक ढँग से करती है—

(१) एक गोपी ने कृष्णचन्द्र की मुरली इस कारण छिपाकर रख दी कि जब मनमोहन इसे न पाकर ढूँढ़ने लगेंगे, तो मुझसे भी पूछेंगे। उस समय मुझसे उनसे बात चीत हो सकेगी और मेरी बात करने की लालसा पूरी हो जायगी। मनमोहन ने मुरली खोई हुई जानकर इस गोपी से पूछा, तो पहले तो इसने सौगन्ध खाई, फिर भ्रू-संकोच द्वारा हास्य प्रकट किया, तत्पश्चात् देने का वादा किया, पर अंत में फिर इनकार कर गई। मनमोहन को इस प्रकार उलझाकर वह उनकी रसीली वाणी सुनने में समर्थ हुई। इस अभिप्राय को विहारी लाल ने निम्नलिखित दोहे में प्रकट किया है—

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाय;
सौंह करै, भौंहन हँसै, देन कहै, नटि जाय।

जान पड़ता है, कविवर देव जी को विहारीलाल की इस गोपी की ढिठाई अच्छी नहीं लगी। अपने मनमोहन को इस तरह तंग होते देखकर उनको बदले की सूझी। बदला भी उन्होंने बड़ा ही बेढब लिया! घोर शीत पड़ रहा है। सूर्योदय के पूर्व ही गोपियाँ नदी में स्नान करने को घुसी हैं, वस्त्र उतार कर तट पर रख दिये हैं। देव के मनमोहन को बदला लेने का उत्तम अवसर मिल गया। एक गोपी की शरारत का फल अनेक गोपियों को भोगना पड़ा। चीरहरण के इस चमत्कार-पूर्ण चित्र का चित्रण देव जी ने नीचे लिखे पद्य में अनोखे ढँग से किया है। दोहे के 'बतरस' शब्द को छन्द में जिस प्रकार असली—जीता-जागता रूप प्राप्त हुआ है, वह भी अपूर्व है। प्रश्नोत्तर का ढँग बड़ी ही मार्मिकता से 'बतरस' को सजीव करके दिखला रहा है—

कंपत हियो; न हियो कंपत हमारो;
यों हँसी तुम्हैं अनोखी नेकु सीत मैं ससन देहु;
अंबर हरैया, हरि, अंबर उजेरो होत;
हेरि कै हँसै न कोई; हँसै तो हसन देहु।
"देव" दुति देखिबे को लोयन में लागी रहै;
लोयन में लाज लागै; लोयन लसन देहु;
हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
अजहूँ बसन देहु ब्रज मैं बसन देहु!

गोपियाँ कहती हैं—"हमारा हृदय काँप रहा है (कंपत हियो)।" उत्तर में कृष्णचन्द्र कहते हैं—"पर हमारा हृदय तो नहीं कांपता है

(न हियो कंरन हमारो)।" फिर गोपियाँ कहती हैं—"अरे चीरहरण करने वाले (अंबर हरैया)! देखो, आसमान में सफेदी छाती जाती है। (अंबर उजेरो होत)। लोग देखकर हँसेंगे।" कृष्णचन्द्र कहते हैं—"हँसेंगे, तो हँसने दो; हमें क्या ?" इत्यादि। अंत में कितनी दीन वाणी है—"हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह, अजहूँ बसन देहु ब्रज में बसन देहु।" गर्व का सम्पूर्ण खर्व होने के बाद एक मात्र शरण में आये हुए की कैसी करुण, दीन वाणी है! "सौंह करै भौंहन हँसै, देन कहै, नटि जाय" का कैसा भरपूर बदला है! वास्तव में विहारी के "लाल" को जिसने इस प्रकार खिझाया था, उसको देव के 'अंबर-हरैया कान्ह' ने खूब ही छकाया! बिहारीलाल के दुर्गम 'बतरस'—दुर्ग पर देव को जैसी विजय प्राप्त हुई है, क्या वह कुछ कम है? इस छन्द का आध्यात्मिक अर्थ तो और भी सुन्दर है, पर स्थानाभाव वश उसे यहाँ नहीं दे सकते हैं। देवजी, कौन कह सकता है कि तुम विहारीलाल से किसी बात में कम हो?

(२) पावस का समय है। बादल उठे हैं। धुरवायें पड़ रही हैं। पर विरहिणी को यह सब अच्छा नहीं लग रहा है। उसे जान पड़ता है, संसार को जलाता हुआ प्रथम मेघ-मंडल आ रहा है। जलाने का ध्यान होने से वह उसे अग्नि के समान समझती है। सो स्वभावतः वह धुरवाओं को आने वाले बादल का उठता धुआँ समझ रही है। जो मेघ आर्द्र करता है, वह जलाने वाला समझा जा रहा है। कैसी विषमता पूर्ण उक्ति है! विहारीलाल कहते हैं—

धुरवा होहि न; लखि, उठै धुआँ धरनि चहुँकोद;
जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद।

बिहारी लाल की यह अनूठी उक्ति देख कर—"जगत को जारत" समझ कर देवजी घबरा गये। तो उन्होंने रंग-बिरंगी, हरी भरी लताओं का ज़ोर-ज़ोर से हिलना और पूर्वा वायु के झकोरों में झुक जाना, वन्यभूमि का नवीन घटा देखकर अंकुरित हो उठना, चातक, मयूर, कोकिला के कलरव एवं अपने हरि को बाग़ में कुछ कर गुज़रने वाले रागों का सानुराग आलाप-कार्य देखकर सोचा कि क्या यह सब दृश्य होते हुए भी विरहिणी का यह सोचना उचित है कि "जारत आवत जगत को पावस प्रथम पयोद।" इस प्रकृति अभिषेक को जिस प्रकार संयोगशाली देखेंगे; उस प्रकार देखने के लिए देव जी ने अपने निम्नलिखित छन्द की रचना की। बादलों के आर्द्रकारी-गुण की फिर से स्वीकृति हुई। वर्षा का सुन्दर यथार्थ रूप जगत् के सामने एक बार फिर रक्खा गया। प्रकृति की प्रसन्नता, पक्षियों का कलरव, संयोगी पुरुषों का प्रेमालाप सभी एक बार अपने पूर्ण विकास के साथ, देव की कविता में झलक गये। देखिये—

सुनि कै धुनि चातक-मोरनि की चहुँ ओरन कोकिल-कूकनि सों
अनुराग-भरे हरि बागन मैं सखि, रागति राग अचूकनि सों
"कवि देव" घटा उनई जुनई, वन-भूमि भई दल-दूकनि सों;
रङ्ग राती, हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर के झूकनि सों।

(३) विरहिणी नायिका विरह-ताप से व्याकुल होकर तड़प रही है। उसकी यह विकट दशा देखकर पत्थर भी पसीज उठता है! पर

नायक की कृपा नहीं हो रही है। चतुर सखी नायिका की इस भीषण दशा को यकायक और चुपचाप चल कर देखने के लिए नायक से कहती है। कहने का ढंग बड़ा ही मर्मस्पर्शी है—

जो वाके तन की दशा देख्यो चाहत आप,
तौ बलि नेकु विलोकिये चलि औचक चुपचाप।

एक ओर विरहिणी नायिका की ऐसी दुर्दशा देखने का प्रस्ताव है, तो दूसरी ओर इसी प्रकार—चुपचाप—झाँक कर वह चित्र देखने का आग्रह है, जो नेत्रों का जन्म सफल करने वाला है। एक ओर कृशांगी, विरह-विधुरा और म्लान सुन्दरी का चित्र देख कर हृदय-सरिता सूखने लगती है, तो दूसरी ओर स्वस्थ मधुर और विकसित यौवना नायिका की कन्दुक-क्रीड़ा दृष्टिगत होते ही हृदय-सरोवर लहराने लगता है। एक सखी भीषण, बीहड़ दग्धप्राय वन का दृश्य दिखाती है, तो दूसरी सुरम्य लहलहाता हुआ नन्दन-वन सामने लाकर खड़ा कर देती है। एक ओर ग्रीष्म ऋतु की दग्धकारी कृति है तो दूसरी ओर पावस का आनन्दकारी दृश्य है। छन्द, दशा और भाव का वैषम्य होते हुए भी नायक से नायिका की दशा विशेष देखने का प्रस्ताव समान है। चित्र को दोनों ओर से देखने की आवश्यकता है। एक ओर से उसे विहारीलाल देखते हैं, तो दूसरी ओर से देवजी उसकी उपेक्षा नहीं करते हैं, दोनों के वर्णन ध्यान से पढ़िये। देव जी कहते हैं—

आवो ओट रावटी झरोखा झाँकि देखौ "देव"
देखिबे को दाँव फेरि दूजे द्यौस नाहि ने

लह लहे अंग रंग-महल के अंगन में
टाढ़ी वह बाल लाल पगन उपाहने।
लोने मुख-लचनि नचनि नैन कोरनि की,
उरति न और ठौर सुरति सराहने;
बाम कर बार, हार, अंचर सम्हारे करें,
कैयो फन्द कंदुक, उछारें कर दाहिने।*

दाहने हाथ से गेंद उछालते समय बायें हाथ से नायिका को बाल, माला और आँचल सँभालना पड़ रहा है एवं इसी कंदुक-क्रीड़ा के कारण सलोने मुख का झुकना एवं नेत्रकोरकों का सतत नृत्य कितना मनोरम हो रहा है! यह भाव कवि ने बड़े ही कौशल से छन्द में भर दिया है। लहलहाते हुए अंगों वाली नायिका की, रंग महल के

---

*मोतीगण-गूथी, गोल, सुघर, छवि-जाल रेशमी मेलन पर,
ऊँची-नीची हो प्राण हरै, दुति-रूप-सुधा-रस झेलन पर,
बिन देखे समझैं नहीं यार, चित पार होगई हेलन पर,
इस लाल बिहारी जानी की, कुरबान गेंद की खेलन पर।

सीतल

यह भाव भी ऊपर दिये देव के छन्द की छाया है। सीतल जैसे बड़े कवियों को देव के भाव अपनाने में लालायित देखकर पाठक देव जी की भावोत्कृष्टता का अन्दाजा कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी द्रष्टव्य है कि सुकवि खड़ी बोली में भी उत्तम कविता कर सकता है।

आँगन में ऐसी कन्दुक क्रीड़ा झरोखे से झाँक कर देखने के लिये बार-बार नहीं मिल सकती है। तभी तो कवि कहता है—"आवो ओट रावटी, झरोखा झाँकि देखौ "देव" देखिबे को दाँव फेरि दूजे द्यौस नाहिनें।"

(४) *कर के मीड़े कुसुम-लौं गई बिरह कुँभिलाय;*
सदा समीपनि सखिन हूँ नीठि पिछानी जाय।

बिहारी

इस पद्य में विरहिणी नायिका की समता हाथ से मसले हुये फूल से देकर कवि ने अपनी प्रतिभा-शक्ति का अच्छा नमूना दिखाया है। नायिका की विवर्णता, कृशता, निर्बलता एवं श्री-हीनता का प्रत्यक्ष "कर के मीड़े कुसुम लौं" शब्द-समूह से भली भाँति हो जाता है; मानो "औचुक, चुपचाप" ले जाकर यही हृदय-द्रावी चित्र दिखलाने का प्रस्ताव सखी ने पिछले दोहे में किया था, क्योंकि वहाँ तो सखी ने केवल इतना ही कहा था—"जो वाके तन की दशा देख्यो चाहत आप।" बिहारी के इस चित्र को देखकर सम्भव है, पाठक अधीर हो उठे हों। अतः पहले के समान पुनः देव का एक छंद उद्धृत किया जाता है। इसमें दूसरे दो प्रकार का चित्र खचित है। मरुभूमि से निकल कर शस्य-श्यामला भूमि-खंड पर दृष्टि पड़ने में जो आनन्द है, प्यास से मरते हुये को अत्यन्त शीतल जल मिल जाने में जो सुख है, वही दोहा पढ़ चुकने के बाद इस छंद के पाठक को है—

लागत समीर लंक लहकै समूल अंग,
फूल से दुकूलनि सुगंध बिथुरो परै;

इन्दु-सों बदन मंद हाँसी सुधा-बिन्दु,

अरविन्द ज्यों मुदित मकरंदनि मुर्‌यो परै।

ललित लिलार रंग-महल के आँगन के,

मग में धरत पग जावक घुर्‌यो परै;

"देव" मनि-नूपुर-पदुम-पदहू पर ह्वै,

भूपर अनूप रंग-रूप निचुर्‌यो परै।

—देव

एक ओर मसल कर मुरझाया हुआ कोई फूल है; दूसरी ओर मकरंद-परिपूरित, मुदित अरविन्द है। एक में सुगन्ध का पता नहीं; पर दूसरे में सुगन्ध 'बिथुरी' पड़ती है। एक का पहचानना भी कठिन है, परन्तु दूसरे का 'अनुरूप रंग-रूप' निचुड़ा पड़ता है। एक दूसरे में महान् अंतर है। एक 'निदाघ' के चक्कर में पड़ कर नष्टप्राय हो गया है, तो दूसरा शरद-सुखमा में फूला नहीं समाता। एक ओर बिहारी का विरह है तो दूसरी ओर देव की दया है।

(५) स्याम-सुरति करि राधिका तकति तरनिजा-तीर;
अँसुवन करति तरौस को खिनक खरौहीं नीर।

—बिहारी

आजु गई हुती कुंजनि लौं बरसैं उत बूँद घने घन घोरत;
"देव" कहै—हरि भीजत देखि अचानक आय गये चित चोरत
पोंटभट्ट, तट ओट कुटी के लपेटि पटीसों, कटी-पट छोरत;
चौगुनी रंगु चढ्यो चित मैं, चुनरी के चुचात लला के निचोरत।

—देव

इन दोनों पद्यों का भाव-वैषम्य स्पष्ट है। कहाँ तो कालिन्दीकूल पर पूर्व केलि का स्मरण हो आने से नायिका का अश्रुप्रवाह और कहाँ घोर जल-वृष्टि के अवसर पर उसे भीगती देखकर नायक का कुंज में बचाने आना! एक ओर अन्धकारमय दुःख वियोग और दूसरी ओर आशा-पूर्ण, सुखद संयोग। एक ओर नायिका के अश्रुप्रवाह मात्र से यमुना-जल खरौहीं (खारा) हो जाता है--अल्प कारण से बहुत बड़ा कार्य्य साधित हो जाता है, तो दूसरी ओर भी नानी से चुचाती चुनरी के निचोड़ने से रङ्ग जाने की कौन कहे, चित्त में चौगुना रंग और चढ़ता है। कारण के विरुद्ध कार्य्य होता है और सो भी अन्यत्र। निचोड़ी जाती है चूनरी, पर रङ्ग चढ़ता है नायिका के चित्त में, और ऐसा हो भी, तो क्या आश्चर्य; क्योंकि 'लला के निचोरत' तो ऐसा होना ही चाहिये! दोनों पद्यों का शेष अर्थ स्पष्ट ही है। उभय कविवरों की उक्तियों पर ध्यान देने की प्रार्थना है।

उभय कविवरों के जो पाँच-पाँच छन्द ऊपर दिये गये हैं उनमें विशेष कर भाव विषमता ही देखने योग्य है। पाठकों को आश्चर्य होगा कि इस प्रकार के उदाहरण पढ़ कर उभय कविवरों के विषय में अपना मत स्थिर करना कैसे सरल हो सकेगा। उत्तर में कहना यही है, कि इस प्रकार का उदाहरण-क्रम जान बूझ कर रखा गया है। गहराई देखे विना जैसे ऊँचाई पर ध्यान नहीं जाता, भाद्र-मास की अमावस्या का अनुभव किये बिना जैसे शारदी पूर्णिमा प्रसन्नता का कारण नहीं होती वैसे ही बिलकुल विरुद्ध भावों की कविताओं को सामने रक्खे बिना समानभाव वाली कविताओं पर यकायक निगाह

नहीं दौड़ती। काले और गोरे को देख चुकने के बाद ही हम कहीं कह सकते हैं कि काले की यह बात सराहनीय है, तो गोरे में यह हीनता है।

हमने देव के प्रायः सभी छन्द संयोग-शृङ्गार सम्बन्धी दिये हैं, क्योंकि संयोग-वर्णन देव ने अनूठा किया है। बिहारी लाल के विषय में भाष्यकार की राय है कि विरह-वर्णन में उनको कोई नहीं पाता। इस कारण उनके पांच में से चार दोहे वियोग-सम्बन्धी दिये गये हैं। कुछ लोगों की राय में बिहारीलाल के सभी दोहे अच्छे हैं। इस कारण हमने जो दोहे हमको अच्छे लगे वही पाठकों के सम्मुख उपस्थित किये। संयोग-दशा में कवि के वर्णन करने के ढंग को देख कर पाठक यह बात बखूबी जान सकते हैं कि वियोग-दशा में उसी की वर्णन-शैली कैसी होगी। वियोग-कुशल कवि के वियोग-सम्बन्धी छन्द उद्धृत हैं तथा संयोग-कुशल के संयोग-सम्बन्धी।

छोटे छन्द में आवश्यक बातें न छोड़ते हुए, उक्ति कैसे निभाई जाती है, यह चमत्कार बिहारी लाल में है तथा बड़े छन्द में, अनेक परन्तु भाव और भाषा के सौन्दर्य्य के बढ़ाने वाले कथनों के साथ, भाव विकास कैसे पाता है, यह अपूर्वता देवजी की कविता में है। बिहारीलाल की कविता यदि जूही या चमेली का फूल है तो देव जी की कविता गुलाब या कमल-सुमन है। दोनों में सुवास है, भिन्न-भिन्न रुचि के लोग भिन्न-भिन्न सुगन्ध के प्रेमी हैं। रसिक पारखी जिस सुगन्ध को उत्तम स्वीकार करें, वही आमोद-प्रमोद का कारण है। ऊपर उद्धृत पाँचों दोहों में 'बतरस' 'नटि', 'तरौस', 'खरौहीं' और

'नीठि', शब्दों के माधुर्य्य पर ध्यान रखने के लिए भी पाठकों से प्रार्थना है। गुणाधिक्य अलङ्कार-बाहुल्य, रस-परिपाक एवं भाव चमत्कार कविता-उत्तमता की कसौटी रहनी चाहिए। विषमता से कवि की उक्ति में कहीं भेद नहीं पड़ता, वरन् परीक्षक को सम्मति देने में और भी सुविधा रहती है, क्योंकि उसको पद्य के यथार्थ गुणों पर न्याय करना होता है। साम्य उपस्थित होने पर तुलना-समस्या निर्णय को और भी जटिल कर देती है। इन्हीं कारणों से पहले विरुद्ध भावों के उदाहरण देकर हम अब बाद को भावसादृश्य का निदर्शन करते हैं।

२—समतामयी

बिहारी और देव के पद्यों में अनेक स्थलों पर भावसादृश्य पाया जाता है। कहीं-कहीं पर तो शब्द-रचना भी मिल जाती है। पर दोनों ने जो बात कही है, अपने-अपने ढङ्ग की अनूठी कही है। यह कहा जा सकता है कि ऐसे भाव-सादृश्य जहाँ कहीं हैं, वहाँ बिहारीलाल छाया हरण करने वाले नहीं हैं, क्योंकि वे देव के पूर्ववर्त्ती हैं तथा परवर्त्ती होने के कारण सम्भव है, देव ने भाव हरण किये हों! परन्तु देव जी की कविता में भाव-हरण का दोष स्थापित किया जा सकता है, तो बिहारी की अधिकांश कविता इस लांछन से मलिन पाई जायगी। क्या संस्कृत, क्या प्राकृत, क्या हिन्दी, सभी से बिहारीलाल ने भाव हरण किये हैं। सूर और केशव की उक्तियाँ उड़ाने में तो बिहारीलाल को संकोच ही नहीं होता था। भाव-सादृश्य में भी रचना-कौशल ही दर्शनीय है। बिहारी और देव की कविता में इस प्रकार के भाव-

सादृश्य अनेक स्थलों पर हैं। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण हमने उभय कविवरों के काव्य से छाँट कर, एकत्रित किये हैं। भाव-सादृश्य उपस्थित होने का एक बहुत बड़ा कारण यह है कि दोनों कवियों ने प्रायः शृङ्गार रसान्तर्गत भाव, अनुभाव, नायिका भेद, हाव, उद्दीपन आदि का समुचित रीति से वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णनों में स्वतः कुछ न कुछ समानता दिखलाई पड़ती है। पाठकों की तुलना सुविधा के लिए कुछ सुधासुक्तियाँ यहाँ पर उद्धृत की जाती हैं—

(१) *विहँसति-सकुचति-सी दिये कुच-आँचर-बिच बाँह ;*
भीजे पट तट को चली न्हाय सरोवर माँह।

विहारी

पीन रङ्ग सारी गोरे अङ्ग मिलि गई "देव"
श्रीफल-उरोज-आभा आभासै अधिक सी;
छूटी अलकनि झलकनि जल-बूँदनि की,
बिना बेंदी-बन्दन बदन-सोभा विकसी।
तजि-तजि कुंज-पुंज ऊपर मधुप-पुंज
गुंजरत, मंजु वर बोलैं बाल पिक-सी ;
नीबी उकसाय नेक नैनन हँसाय हँसि
ससिमुख सकुचि सरोवर तें निकसी।

—देव

सरोवर में स्नान करके गीले वस्त्र पहने नायिका जल से निकल कर तट की ओर जा रही है। यही बात दोहा और घनाक्षरी दोनों में वर्णित है। दोहे में स्नानानन्तर शीतलता-सुख से नायिका 'विहँस' रही है, परन्तु जिन कारणों से उसने "कुच-आँचर बिच बाँह" रखी है,

उन्हीं कारणों से वह "सकुच" भी रही हैं 'बिहँसति सकुचति' 'कुच आँचर बिच', 'पट तट' में शब्द-चमत्कार भी अच्छा है। दोहे में सरोवर से नहा कर गीले कपड़े पहने हुई नायिका का चित्र है। बरबस वह चित्र नेत्रों के सामने आ जाता है। पर नायिका कैसी है, इसका अन्दाजा केवल इतना होता है कि वह युवती है, बिहँसितवदना है और संकोचवती भी है। सौंदर्य्यकल्पना का भार बिहारीलाल पाठक की रुचि पर छोड़ देते हैं।

देव जी अपनी प्रखर प्रतिभा के प्रताप से कल्पना-सरिता में गहरा गोता लगाते हैं। गौरांगी नायिका सामने आ जाती है। ऋतु समय और शोभा के अनुकूल वह पीत रंग की ऐसी महीन साड़ी पहने हुए है जो स्नानानन्तर गोरे रङ्ग में मिल कर रह जाती है। स्नान करते समय शरीर के कतिपय कृत्रिम शृङ्गार-शरीर में लगे हुए अङ्गराग धुल कर बह जाते हैं, इससे सौन्दर्य्य में किसी प्रकार की कमी नहीं आ रही है। 'बेंदी' और 'बंदन' के बिना भी शोभा विकसित हो रही है। छूटी हुई अलकावली में जल-बिन्दु खूब ही झलक रहे हैं। नायिका पिकबैनी है। स्नान में ऊपर से लगाई हुई सुगन्ध के धुल जाने पर भी शरीर की सहज सुवास से आकृष्ट हो, कुंज के विकसित कुसुमों की गन्धों को त्याग कर, अलि-पुंज नायिका के ऊपर गुंजार कर रहे हैं। भ्रमरों के इस उपद्रव से नायिका डर गई है। वह उनके इस भ्रम को दूर करना चाहती है कि मैं कमलिनी हूँ। उधर सूखे वस्त्रों के लिये उसे सरोवर-तट पर खड़ी सखी को भी सचेत करना है। बस, वह दो-एक वचन कह कर भ्रमरों का भ्रम मिटाती और सखी को सचेत करती

है तथा कवि को अपने पिकबैनी होने का परिचय देती है। अब वह पानी से निकलने वाली है, कटि के नीचे का वस्त्र जलार्द्र होने के कारण भारी हो गया है; अतः वह स्वाभाविक रीति से नीचे को खिसक रहा है। इसी को सँभालने के लिए नायिका को नींवी (कटि-बन्धन) उकसानी पड़ी है और नीवी उकसाने में हाथों के अटक जाने के कारण ही श्रीफल उरोजों की गौर आभा, जिन पर पीत सारी चिपकी हुई है, अधिक-अधिक आभासित हो रही है। इस प्रकार नींवी-रक्षा करते हुए उसे सुरति-समय का स्मरण हो आया है, जिससे उसके नेत्रों में छिपी हुई ईषत् हँसी आभासित हो गई है। स्वाभाविक जल केलिजन्य आनन्द से उसकी हँसी स्पष्ट भी है। नींवी उकसाने में उसे जो स्मृति आ गई है, उसे वह प्रगट नहीं होने देना चाहती एवं हाथों के, नींवी उकसाने के कार्य में, लग जाने के कारण उरोजों का गोपन नहीं हो सका है। अतएव नायिका को संकोच भी हो रहा है। 'पीतरंगसारी गोरे अँग मिलि गई' में मीलित, इस मेल के कारण 'श्रीफल-उरोज आभा आभासै अधिक' में अनुगुन 'बिना बेंदी·बंदन वदन शोभा बिकसी' में विनोक्ति 'तजि-तजि कुंज-पुँज ऊपर मधुप-पुँज गुंजरत' में भ्रान्ति-मान, 'बोलै बाल पिक-सी' में लुप्तोपमा, कुल छंद में स्वभावोक्ति, 'आभा आभासै' में यमक, 'तजि-तजि' में वीप्सा एवं स्थल स्थल पर छंद में अनुप्रास का चमत्कार है। शरत्कालीन जल-केलि का दृश्य और हाव भाव का रूप है, पद्मिनी नायिका श्रृंगार रस की सर्वस्व हो रही है। प्रसाद, माधुर्य आदि गुणों से युक्त लाक्षणिक पद भी अनेक हैं। घनाक्षरी और दोहे में बहुत अन्तर है।

(२) नई लगन, कुल की सकुच; विकल भई अकुलाय;
दुहूँ ओर ऐंची फिरै; फिरकी-लौं दिन जाय।

—बिहारी

मूरति जो मन मोहन की, मन मोहनी कै, थिर ह्वै थिरकी-सी;
"देव" गुपाल को नाम सुने सियराति सुधा छतियाँ छिरकी-सी;
नीके झरोखा ह्वै झाँकि सकै नहिं, नैनन लाज-घटा घिरकी-सी;
पूरन प्रीति हिये हिरकी, खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी-सी।

—देव

नायिका की दशा फिरकी के सदृश हो रही है जिस प्रकार फिरकी निरंतर घूमती है, ठीक उसी प्रकार (नायिका भी अस्थिर है। बिहारीलाल की नायिका को एक ओर 'नयी लगन' घसीटती है, तो दूसरी ओर 'कुल की सकुच'। फिरकी के समान उसके दिन बीत रहे हैं। देव जी की नायिका के 'हिये में' भी 'पूरन प्रीति हिरकी' है और नेत्रों में 'लाज-घटा' 'घिरकी' है। इसलिये वह भी "खिरकी-खिरकीन फिरै फिरकी सी।" देवजी ने 'लगन' के स्थान पर 'प्रीति' और 'सकुच' के स्थान पर 'लज्जा' रक्खी है। हमारी राय में बिहारी लाल की 'नई लगन' देव जी की 'पूरन प्रीति' से प्रकृष्ट है। 'नई लगन' में जो स्वभावतः अपनी ओर खींचने के भाव का स्पष्टीकरण है वह 'पूरन प्रीति' में वैसा स्पष्ट नहीं है। पर देव जी की 'लाज घटा' 'कुल की सकुच' से कहीं समीचीन है! इस 'लाज घटा' में कुल-संकोच, गुरुजन-संकोच आदि सभी घिरे हुए हैं। यह बड़ा ही व्यापक शब्द है। फिर लाज' में प्रियतम-प्रीति, प्रेमपूर्ण, स्वभावतः उत्पन्न, अनिर्वचनीय

संकोच (झिझक) का जो भाव है, वह बाहरी दबाव के कारण, अतः कुल की कृत्रिम सकुच में, नहीं है वातायन-द्वार पर विशेष वायु-संचार की संभावना से फिरकी की उपस्थिति जैसी स्वाभाविक है, उसे पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं। अनुप्रास-चमत्कार एवं अन्य काव्य-गुणों में सवैया दोहे से उत्कृष्ट है। मनमोहन की मूर्ति 'मनमोहिनी' की गई है, यह परिकरांकुर का रूप है। 'थिर ह्वै थिरकी' में असंगति आलंबन है। नाम मात्र सुनने से उरोजों का ठंडा होना चंचलातिशयोक्ति अलंकार, का रूप है। उपमा की बहार तो दोनों छन्दों में ही समान है। नई लगन के वश बिहारीलाल की नायिका इँच जाती है और उसमें कुल-संकोचमात्र की लज्जा है, पर देव की नायिका में स्वाभाविक लज्जा है। इसी लज्जावश वह झरोखे से ही झाँक कर अपना मनोरथ सिद्ध नहीं कर पाती। देव जी की नायिका विशेष लज्जावती है। उसमें मुग्धत्व भी विशेष है।

(३) *पलन पीक, अंजन अधर, दिये महावर भाल;*
आजु मिले सो भली करी; भले बने हौ लाल।

—बिहारी

भारे हौ, भूरि-भुराई-भरे अरु भाँतिन-भाँतिन के मनभाये;
भाग बड़ो वरू भामती को; जेहि भामते लैं रँग भौन बसाये!
भेष भलोई भली विधि सों करि; भूलि परो किधौं काहू भुलाये?
लाल भले हौ; भली सिख।दीन्हीं भली भई आजु भले बनि आये?

—देव

सापराधी नायिका के प्रति खंडिता नायिका की अपूर्व भर्त्सना दोनों ही छन्दों में समान है। देवजी की खंडिता कुछ विशेष वाक्-चतुरा समझ पड़ती है। विहारीलाल की नायिका देखते न देखते तुरन्त कह उठती है--"पलन पीक अंजन-अधर दिये महावर भाल।" नायक का सापराधत्व स्थापित करने में वह क्षणमात्र का भी विलम्ब नहीं होने देती। पर देवजी की नायिका उस चतुराई का आश्रय लेती है, जिससे अपराधी को पद-पद पर लज्जित होना पड़े। "आप बड़े आदमी हैं, खूब ही भोले हैं हमें तो आप अनेक प्रकार से अच्छे लगते हैं" यह कथन करके--ऐसा व्यंग बाण छोड़ कर पहले वह मानो नायक को संभलने का इशारा करती है। उसे निर्दोषिता प्रमाणित करने का अवसर देती है। फिर वह बड़े कौशल से शिष्ट जनानुमोदित वाक्य-प्रणाली का अनुसरण करते हुए, नायक पर जो दोष लगाना है, उसे स्पष्ट शब्दों में कहती है—"भाग बड़ो वरु भामती को, जेहि भामते लै रङ्ग-भौन बसायो।" ऊपर मृदु परन्तु यथार्थ में कैसी तीखी वचन-बाण-वर्षा है! कदाचित् नायक अपना निरपराधत्व सिद्ध करने का कुछ उद्योग करे, इसलिए नायिका उसको तुरन्त "भेष भलोई भली विधि सों करि" का स्मरण दिला कर किंकर्तव्य-विमूढ़ कर देती है। सिटपिटाये हुए नायक को उत्तर देते हुए न देख कर वह फिर एक करारी चोट देती है—"भूलि परो किधौं काहू भूलाए ?" यह ऐसी मार थी कि नायक पानी-पानी हो जाता है। तब शरण में आये हुए को जिस प्रकार कुछ टेढ़ी मेढ़ी बात कर छोड़ दिया जाता है, उसी प्रकार नायिका भी "लाल भले हो, भली सिख दीन्हीं, भली

भई आजु भले बनि आये" कह कर नायक को छोड़ देती है। देव इस भाव के प्रस्फुटन में क्या विहारी से दबते दिखलाई पड़ते हैं?

(४) *कोहर-सी एड़ीन की लाली देखि सुभाय;*
पाव महावर देन को आप भई वेपाय।

—विहारी

आती हुती अन्हवावन नाइनि, सोंधे लिये वह सूधे सुभायनि;
कंचुकि छोति उतै उपटैबे को, ईंगुर-से अंग की सुखदायनि।
"देव" सरूप की रासि निहारति पाँयते शीश लौं शीश ते पायनि;
ह्वै रहि ठौरहि ठाढ़ी ठगी-सी हँसै कर ठोढ़ी धरे ठकुरायनि।

—देव

विहारीलाल कहते हैं कि "महावर के समान एँडियों की स्वाभाविक लाली देख कर (जो नाइन) महावर देने आई थी, वह 'वेपाय' हो गई।" नाइन ऐसा रक्त वर्ण देख कर और महावर-प्रयोग की निष्प्रयोजनता सोच कर चकित रहगई। दोहे में 'नाइन' पद अपनी ओर से मिलाना पड़ता है। छोटे से दोहे में यदि विहारीलाल पर न्यून पद दूषण का अभियोग न लगाया जाय, तो हमारी राय में, वह क्षम्य है। देव जी के वर्णन में भी नाइन आती है, और उसी प्रकार सौन्दर्य्य-सुषमा देख कर चकित हो जाती है। दोहे में 'कोहर-सी एड़ी' की लाली दिखलाई पड़ती है; तो सवैया में "ईंगुर-से अङ्ग की सुखदायनि" है। दोहे में वह नाइन 'वे पाय' हो जाती है, तो सवैया में "ह्वै रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी सी" दिखलाई पड़ती है। लेकिन देव जी उसे "पाँयते शीशलौं शीशते पाँयनि सुरूप की रासि" भी दिखलाते हैं एवं एक

बात और भी होती है। वह यह कि अपार सौन्दर्य्य देख कर नाइन का चकित होना। नायिका भाँप लेती है और इसी कारण 'हँसैं करि ठोड़ी धरे ठकुरायनि' भी छन्द में स्थान पाता है। सौन्दर्य्य छटा देख सकने का सुयोग, अनुप्रास-चमत्कार, भाषा, स्वाभाविक प्रवाह और माधुर्य्य देखते हुए देव जी का सवैया दोहे से उठता हुआ प्रतीत होता है।

(४) *पिय के ध्यान गही-गही रही वही ह्वै नारि;*
आप आप ही आरसी लखि रीझति रिझवारि।

—बिहारी

राधिका कान्ह को ध्यान धरैं तब, कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावैं;
त्यों अँसुवाँ बरसै बरसाने को पाती लिखै लिखि राधे को ध्यावैं।
राधे ह्वै जाय घरीक में "देव" सु-प्रेम की पाती लै छाती लगावैं;
आपुने आपुही में उरझैं, सुरझैं बिरुझैं, समुझैं, समुझावैं।

—देव

दोनों के भाव-साहश्य का अनुपम दृश्य कितना मनोरञ्जक है। प्रियतम के ध्यान में मग्न सुन्दरी प्रियतममय हो रही है। दर्पण में अपना स्वरूप न दिखलाई पड़ कर प्रियतम के रूप का नेत्रों के सामने नाचता हुआ प्रतिबिम्ब उसे प्रत्यक्ष सा हो रहा है। उसी रूप को वह निहार-निहार कर रीझ रही है। बिहारीलाल ने इस भाव को अनुप्रासचमत्कार पूर्ण दोहे में बड़ी सफ़ाई से बिठलाया है। 'रही वही ह्वै नारि' को देव जी ने स्पष्ट कर दिया है। राधिका जी श्री कृष्ण का ध्यान करती हैं। इसमें वे कृष्णमय हो जाती हैं और

जो कुछ कृष्ण करते हैं, वही वे भी करने लगती हैं। कृष्णचन्द्र राधिका का गुणगान किया करते थे; इस कारण राधिका जी, जो इस समय कृष्ण हो रही हैं, राधिका जी का गुणानुवाद कर रही हैं। उन्हें यह ज्ञान नहीं है, कि वे अपने मुँह अपनी ही प्रशंसा कर रही हैं। इस समय तो उनमें तन्मयता है—वे राधिका न रह कर कृष्ण हो रही हैं। फिर उन्हीं कृष्ण रूप से अश्रुपात करती हुई वे राधिका जी को प्रेम पत्र लिखती हैं। राधिका को प्रेम पत्र मिलने पर कैसा लगेगा—उसका वे कैसे स्वागत करेंगी, इस भाव को व्यक्त करने के लिए कृष्णमय, पर वास्तविक राधिका एक बार फिर राधिका हो जाती हैं। पर इस अवसर पर भी उन्हें यही ज्ञान है कि मैं वास्तव में कृष्ण हूँ और पत्रिका-स्वागत दशा का अनुभव करने के लिए राधिका बनी हूँ अर्थात् राधिका जी को राधिका बनते समय इस बात का स्मरण नहीं है कि मैं वास्तव में राधिका ही हूँ।

देखिये कितनी ध्यान-तन्मयता है और कवि की प्रतिभा का प्रवेश भी कितना सूक्ष्म है? "पिय के ध्यान गही-गही रही वही ह्वै नारि" के शब्द-चमत्कार एवं भाव को देव जी का "आपुने आपुही मैं उरझै, सुरझै, विरुझै समुझै समुझावै" कैसा समुज्वल कर रहा है "राधे ह्वै जाय घरीक में "देव" सुप्रेम की पाती लै छाती लगावै" विहारीलाल के "आप आप ही आरसी लखि रीझति रिझवारि" से हृदय पर अधिक चोट करनेवाला है। दोनों भाव एक ही हैं, कहने का ढंग निराला है। तल्लीनता का प्रस्फुटन दोहे की अपेक्षा सवैया में अधिक जान पड़ता है।

रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास

बाबू श्यामसुन्दर दास जी का जन्म वि० संवत् १९३२ में बनारस में हुआ। आप के पिता का नाम श्री देवीदास जी खन्ना था। वि० सं० १९५४ में आपने बी० ए० परीक्षा पासकी। वि० संवत् १९५६ में आप सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के अध्यापक नियुक्त हुए, और १० वर्ष तक इस पद पर रहे। दो वर्ष तक आपने 'सरस्वती' का सम्पादन कया। आठ वर्ष के अधिक परिश्रम से आपने स्वस्थापित नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा 'हिन्दी शब्द सागर' नामक एक बड़ा कोष निकाला। अभी हाल में आपने एक वैज्ञानिक कोष भी तैयार कराया है। कई वर्षों तक काशी विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रधान अध्यापक रहे। आजकल आप एकान्त जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

यों तो आपने हिन्दी में कई समालोचनात्मक पुस्तकें तथा लेख लिखे हैं पर तीन ग्रन्थ बड़े महत्वपूर्ण है। सब से प्रथम 'साहित्यालोचन' है। यह समालोचना-शास्त्र से सम्बन्ध रखता है। इसमें काव्य, नाटक, उपन्यास आदि साहित्य के विविध अंगों का विशद विवेचन पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों प्रणालियों के अनुसार किया गया है।

दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक गोस्वामी तुलसीदास पर है। यह सन ३१ में छपी थी और इसमें तुलसीदास जी के शैशव, दीक्षा, शिक्षा, गृहस्थजीवन, वैराग्य, पर्यटन, चमत्कार, कला, व्यक्तित्व आदि पर नया प्रकाश डाला गया है, आज तक जितनी भी खोज हुई है उन सब का इसमें उल्लेख है।

इनके अतिरिक्त आपने 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' दो भागों में निकाला है जिसमें हिन्दी के करीब ८० प्रसिद्ध लेखकों का परिचय है।

आपकी आलोचना-पद्धति गम्भीर और गवेषणापूर्ण होती है। आपकी समालोचनाओं में सहानुभूति पग पग पर प्राप्त होती है।



वीरगाथा काल का प्रबन्ध-काव्य

हिन्दी में वीर गाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—कुछ तो प्रबन्ध-काव्यों के रूप में और कुछ वीर-गीतों के रूप में। प्रबन्ध के रूप में वीर कविता करने की प्रणाली प्रायः सभी साहित्यों में चिरकाल से चली आ रही है। यूनान के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने महाकाव्यों की रचना का मुख्य आधार युद्ध ही माना है और उनकी वीर-रसात्मकता स्वीकार की है। वहाँ के आदि कवि होमर के प्रसिद्ध महाकाव्य की आधारभूत घटना ट्राय का युद्ध ही है। भारतवर्ष के रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों में युद्ध का ही साम्य है, अन्य घटनाओं में बड़ा अन्तर है। वीर गीतों के रूप में भी वीर पुरुषों की प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं। हिन्दी की वीर गाथाओं में प्रबन्ध रूप से सब से प्राचीन ग्रन्थ जिसका उल्लेख मिलता है, दलपति-विजय का खुमान रासो है। ऐसा कहा जाता है कि इसमें चित्तौड़ के दूसरे खुम्माण (वि० सं० ८७०-९००) के युद्धों का वर्णन था। इस समय इस पुस्तक की जो प्रतियाँ मिलती हैं उनमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। संभव है कि यह प्राचीन पुस्तक का परिवर्धित संस्करण हो अथवा उसमें पीछे के राजाओं का वर्णन परिशिष्ट रूप से जोड़ा गया हो। इस पुस्तक के सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ जाँच पड़ताल की आवश्यकता है।

वीरगाथा सम्बन्धी प्रबन्ध काव्यों में दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक चन्द-बरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' है। इस विशालकाय ग्रन्थ को हम महा-काव्यों की उस श्रेणी में नहीं गिन सकते जिसमें यूनान के प्रसिद्ध महा-काव्य ईलियड आदि तथा भारतवर्ष के रामायण महाभारत आदि की गणना होती है। ये महाकाव्य तो एक समस्त देश और एक समस्त जाति की स्थायी संपत्ति हैं। इनमें जातीय सभ्यता तथा संस्कृति का सार अन्तर्निहित है। यह सत्य है कि पृथ्वीराजरासो भी एक विशाल-काय ग्रन्थ है और यह भी सत्य है कि महाकाव्यों की ही भाँति इसमें भी युद्ध की ही प्रधानता है, पर इतने ही साम्य के आधार पर उसे महाकाव्य कहलाने का गौरव नहीं प्राप्त हो सकता। महाकाव्य में जिस व्यापक तथा गम्भीर रीति से जातीय चित्त-वृत्तियों को स्थायित्व मिलता है, पृथ्वीराज रासो में उनका सर्वथा अभाव है। महाकाव्य में यद्यपि एक ही प्रधान युद्ध होता है, तथापि उसमें दो विभिन्न जातियों का संघर्ष दिखाया जाता है और उसका परिणाम भी बड़ा व्यापक तथा विस्तृत होता है। पृथ्वीराज रासो में न तो कोई एक प्रधान युद्ध है और न किसी महान् परिणाम का ही उसमें उल्लेख है। सबसे प्रधान बात यह है कि पृथ्वीराज रासो में घटनाएँ एक दूसरी से असम्बद्ध हैं तथा कथानक भी शिथिल और अनियमित है; महाकाव्यों की भाँति न तो घटनाओं का किसी एक आदर्श में संक्रमण होता है और न अनेक कथानकों की एकरूपता ही प्रतिष्ठित होती है। ऐसी अवस्था में पृथ्वीराज रासो को महाकाव्य न कहकर विशालकाय वीरकाव्य कहना ही संगत होगा।

पृथ्वीराजरासो में युद्धों की प्रधानता के साथ ही शृंगार की प्रचुरता भी की गई है। वीरों के युद्ध के उपरान्त विश्राम काल में मनबहलाव के लिये प्रेम करने की आवश्यकता होती है, और काव्यों में भी रसराज शृंगार के बिना काम नहीं चल सकता। इसी विचार से अन्य देशों में ऐसे वीर काव्यों में युद्ध और प्रेम की परम्परा प्रतिष्ठित हुई थी। पृथ्वीराजरासो आदि वीर काव्यों में भी बीच बीच में शृंगार की आयोजना की गई है और वीरों के आमोदकाल में शृंगार मूर्तिमयी रमणियों का उपयोग किया गया है। कभी कभी तो पारस्परिक विद्वेष की वृद्धि तथा तत्संभव युद्ध के कारण-स्वरूप राजकुमारियों के स्वयंवर कराए गए हैं, और इस प्रकार वीरता के प्रदर्शन के अवसर निकाले गये हैं। सारांश यह कि यहाँ की वीर गाथाओं में शृंगार कभी कभी वीरता का सहकारी और कभी कभी उसका उत्पादक बनकर आया है और बराबर गौण स्थान का अधिकारी रहा है। अन्य देशों के ऐसे काव्यों में यह बात नहीं है। उदाहरणार्थ अंग्रेज़ कवि स्काट को लें। उनमें तो प्रेम की ही प्रधानता और वीरता की अपेक्षाकृत न्यूनता है। जहाँ कहीं प्रेम के कर्तव्य पक्ष के प्रदर्शन की आवश्यकता समझी जाती है, अथवा जहाँ स्त्री जाति के प्रति सदाचार तथा शील आदि का अभिव्यंजन करना पड़ता है, वहाँ वीर भावों की उद्भावना की जाती है। हिन्दी के वीर काव्यों तथा अन्य देशों के वीर काव्यों के इसी अन्तर के कारण दोनों का रूप एक दूसरे से इतना विभिन्न हो गया है कि समता का पता नहीं चलता। प्रेम-प्रधान होने के कारण ऐसे काव्यों की रंगशाला प्रकृति की रम्य

गोद में होती है, जहाँ नायक नायिका के स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण तथा पारस्परिक साक्षात्कार के लिये सब प्रकार के सुभीते रहते हैं। इसके विपरीत हिन्दी के वीर काव्यों में मानों उनके सच्चे स्वरूप के प्रदर्शनार्थ ही रणभूमि को प्रधानता दी गई है और कुमारियों के स्वयंवर स्थल तक को कभी-कभी रक्तरंजित कर दिया गया है। प्रेम-प्रधान हृदयों में प्रकृति के नाना रूपों के साथ जो अनुराग होता है वह युयुत्सु वीरों में नहीं होता। इसीलिए यहाँ की वीर गाथाओं में प्राकृतिक वर्णनों का प्रायः सर्वत्र अभाव ही पाया जाता है।

यह विशालकाय ग्रन्थ हिन्दी का प्रथम महाकाव्य समझा जाता है और इसके रचयिता चन्दबरदाई पृथ्वीराज के समकालीन बतलाए जाते हैं, परन्तु अपने वर्तमान रूप में यह किसी एक काल की अथवा किसी एक कवि की कृति नहीं जान पड़ता। इसमें आए हुए संवतों तथा घटनाओं के आधार पर, साथ ही अनेक वाह्य साक्ष्यों की सहायता से इस ग्रन्थ के रचनाकाल का निर्णय करने में राय बहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, महा-महोपाध्याय, पंडित हरप्रसाद शास्त्री आदि प्रसिद्ध विद्वानों ने बहुत कुछ अनुसंधान किया है; परन्तु उनकी परस्पर विभिन्न तथा विपरीत सम्मतियों को देखते हुए ठीक ठीक कुछ भी नहीं निर्णय हो सकता। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि इसमें बहुत प्राचीन काल से लेकर प्रायः आधुनिक काल तक की हिन्दी में बने हुए छन्द मिलते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि इसमें क्षेपक बहुत हैं। चन्द बरदाई नाम के किसी कवि का पृथ्वीराज के दरबार में होना निश्चित है, और यह भी सत्य

है कि उसने अपने आश्रयदाता की कथा विविध छन्दों में लिखी थी, परन्तु समयानुसार उस गाथा की भाषा तथा उसके वर्णित विषयों में बहुत कुछ हेर फेर होते रहे और इस कारण अब उसके प्रारंभिक रूप का पता लगाना असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य हो गया है।

बाबू रामनारायण दूगड़ अपने 'पृथ्वीराज चरित्र' की भूमिका (पृष्ट ८६) में लिखते हैं—"उदयपुर राज्य के विक्टोरिया हाल के पुस्तकालय में रासो की जिस पुस्तक से मैंने यह सारांश लिया है उसके अन्त में यह लिखा है कि चंद के छन्द जगह जगह पर बिखरे हुए थे जिनको महाराणा अमरसिंह जी ने एकत्रित कराया।" इस प्रति के अन्त में यह छन्द है—

गुन मनियन रस पोइ चन्द कवियन कर दिद्धिय।
छंद गुनी ते तुट्टिमन्द कवि भिन भिन किद्धिय॥
देस देस बिष्परिय मेल गुन पार न पावय।
उद्दिमकरि मेलवत आस बिन आलय आवय॥
चित्तकोट रान अमरेस नृप हित श्रीमुख आयस दयौ।
गुन बिन बीन करुणा उदधि लिखिरासौ उद्दिम कियौ॥

इससे स्पष्ट है कि कवि ने राणा अमर सिंह के समय में उनकी आज्ञा से कवि चंद के छन्दो को जो देश देश में बिखरे हुए थे पिरो कर इस रासो को पूर्ण किया। पर यह प्रति सम्वत् १९१७ की लिखी हुई है। अतएव यह प्राचीन प्रति नहीं है। सम्भव है कि राणा अमरसिंह के समय में जिस रासो का संग्रह, संकलन या संपादन किया गया हो उसी की यह नकल हो। जो कुछ हो मेवाड़ राजवंश में अमरसिंह

नाम के दो महाराणा हुए हैं। पहले का जन्म चैत सुदी ७ सम्वत १६१६, राज्य प्राप्ति माघ सुदी ११ संवत् १६५३ और स्वर्गारोहण माघ सुदी २ संवत् १६७६ को हुआ। दूसरे महाराणा अमरसिंह का जन्म मार्गशीर्ष वदी ९ सम्वत् १७२९, राज्यप्राप्ति आश्विन सुदी ४ संवत् १७५५ और स्वर्गारोहण पौष सुदी १ संवत् १७६७ को हुआ। संवत् १७३२ में महाराणा राजसिंह ने राज-समुद्रतालाव के नौ-चौकी बाँधकर बड़ी-बड़ी शिलाओं पर एक महाकाव्य खुदवाया। इसमें पहले पहल रासो का उल्लेख मिलता है।

भाषा रासापुस्तकेस्य युद्धस्यैकोस्ति विस्तरः

अतएव यदि चन्द के बिखरे हुए छन्दों का संकलन सम्पादन आदि किसी के राज्यकाल में हो सकता है, तो वे दूसरे अमरसिंह नहीं पहले ही अमरसिंह होंगे। संवत् १६४२ की लिखी पृथ्वीराज रासो की एक प्रति काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रह में है। इस संवत् तक तो प्रथम अमरसिंह गद्दी पर भी नहीं बैठे थे, उनके पिता स्वनाम धन्य महाराणा प्रतापसिंह अकबर के साथ युद्ध करने में लगे हुए थे। इस युद्ध का अन्त संवत् १६४३ में हुआ, जब कि महाराणा ने चित्तौड़गढ़ और मंगलगढ़ को छोड़ कर शेष मेवाड़ को अपने अधीन कर लिया। इन सब बातों के आधार पर क्या यह माना नहीं जा सकता है कि चंद नाम का कोई कवि था जिसने पृथ्वीराज की प्रशंसा की, पर वह बिखर गई थी। अतएव पीछे से प्रथम महाराणा अमर-सिंह के समय में किसी कवि ने इसका संग्रह किया और उसे वर्तमान पृथ्वीराज रासो का रूप दिया। इसमें जो भिन्न भिन्न 'समय' और

कथानक दिये हैं वे प्राचीन रचना नहीं है वरन् महाराणा अमरसिंह के समय में जो कि कहानियाँ प्रसिद्ध थीं उन्हीं के आधार पर इस ग्रन्थ का जीर्णोद्धार हुआ। अतएव इस ग्रन्थ को ऐतिहासिक घटनाओं का प्रमाण-स्वरूप मानना उचित नहीं है।

इससे यह सिद्ध होता है कि इस समय जो पृथ्वीराजरासो वर्तमान है वह बहुत पीछे की रचना है। चन्द के मूल छन्दों का यदि कहीं कुछ पता लग सकता है तो वह संवत् १६४२ वाली प्रति से ही लग सकता है। उद्योग करने पर यह भी पता चल सकता है कि वर्तमान रूप में प्राप्य पृथ्वीराज रासो में प्रक्षिप्त अंश कितना है। तीसरे समय का अन्तिम छन्द यह है—

षोडस गज उरद्ध राज उभौ गवष्ष तस।
संझ समय चीतार पत्त कीनो पेसकस॥
देषत सँभरी नाथ हाथ छूटन हथ सारक।
तीर कि गोरि विछुट्टि तुट्टि असमान की तारक
अधबीच नीच परते पहिल लोहाने लीनो झरपि।
नटकला पेलिजनु फेरि उठि आनि हथ्थ पिथ्थह अरपि॥
हरषि राज पृथिराजं कीन सूर सामंतं।
बगसि ग्राम गजबाजं अजानबाह दीनयं नामं॥

ऐसा जान पड़ता है कि इसी एक छन्द का विस्तार करके "लोहानो अजान बाहु समय" की रचना की गई है। पज्जून महुवा नामक समय का २० वाँ दोहा इस प्रकार है—

जीति महुव्वा लीय वर दिल्ली आनि सुपथ्थ।
जं जं किति कला बढ़ी मलैसिंह जस कथ्थ॥

इस दोहे का अर्थ स्पष्ट यह है कि जिस प्रकार कीर्ति बढ़ती गई उसी प्रकार मलैसिंह यश करता गया। मलैसिंह पज्जूनराय नाम के लड़के का नाम भी था, पर यहाँ उससे कोई प्रयोजन नहीं जान पड़ता। ऐसा जान पड़ता है कि मलैसिंह नामक किसी कवि ने इस रासो में अपनी कविता मिला कर भिन्न-भिन्न सामन्तों का यश वर्णन किया। अतएव यदि अधिकांश क्षेपक मिलाने के लिए हम और किसी के नहीं तो मलैसिंह के अवश्य अनुग्रहीत हैं।

सारांश यह कि वर्तमान रूप में पृथ्वीराज रासो में प्रक्षिप्त अंश बहुत अधिक है पर साथ ही उसमें बीच-बीच में चन्द के छन्द बिखरे पड़े हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन छन्दों का संग्रह, संकलन या संपादन सम्भवतः सम्वत् १६३६ और १६४२ के बीच में हुआ था। उसी समय बहुत कुछ कथानक बढ़ा घटाकर इन छन्दों को ग्रन्थ रूप दिया गया; और पीछे तो न जाने कितना और अधिक जोड़ तोड़कर उसका वर्तमान रूप प्रस्तुत किया गया।

जो कुछ हो, इस बृहद् ग्रन्थ में यद्यपि विस्तार के साथ पृथ्वीराज चौहान का वीर चरित ही अंकित किया गया है पर अनेक प्रासंगिक विवरणों के रूप में क्षत्रियों के चार कुलों की उत्पति और अनेक अलग अलग राज्य स्थापन आदि की भी कल्पना की गई है। पृथ्वीराज की पूर्व परंपरा का हाल लिखकर कवि उसकी जीवनी को ही अपने ग्रन्थ का प्रधान विषय बनाता है और प्रासंगिक रीति से तत्कालीन राज-

नीतिक स्थिति का दिग्दर्शन भी कराता है। पृथ्वीराज के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं में अनङ्गपाल द्वारा गोद लिए जाने पर उसका दिल्ली और अजमेर के राजसिंहासनों का अधिकारी होना, कन्नौज के राठौर राजा जयचन्द से विद्वेष होने के कारण उसके राजसूय यज्ञ में न सम्मिलित होकर छिपे-छिपे उसकी कन्या संयुक्ता को हर लाना, जयचन्द तथा अन्य क्षत्रिय नृपतियों से अनेक बार युद्ध करना, क्षीण शक्ति हो जाने पर भी अफगानिस्तान के गोर प्रदेश के अधिपति शहाबुद्दीन के आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना करना, कई बार उसे कैद करके छोड़ देना, आदि-आदि अनेक प्रसंगों का, जिनमें से कुछ कविकल्पित हैं और कुछ ऐतिहासिक तत्वों पर अवलम्बित हैं बड़ा ही मार्मिक तथा काव्यगुण-सम्पन्न वर्णन इस ग्रन्थ में पाया जाता है।

पृथ्वीराजरासो समस्त वीरगाथा युग की सबसे महत्वपूर्ण रचना है। उस काल की जितनी स्पष्ट झलक इस एक ग्रन्थ में मिलती है, उतनी दूसरे अनेक ग्रन्थों में नहीं मिलती। छन्दों का जितना विस्तार तथा भाषा का जितना साहित्यिक सौष्ठव इसमें मिलता है, अन्यत्र उसका अल्पांश भी नहीं दिखाई देता। पूरी जीवन गाथा होने के कारण इसमें वीरगीतों की सी सङ्कीर्णता तथा वर्णनों की एकरूपता नहीं आने पाई है, वरन् नवीनता-समन्वित कथानकों की ही इसमें अधिकता है। यद्यपि 'रामचरित मानस' अथवा 'पद्मावत' की भाँति इसमें भावों की गहनता तथा अभिनय कल्पनाओं की प्रचुरता उतनी अधिक नहीं है, परन्तु इस ग्रन्थ में वीर भावों की बड़ी सुन्दर अभि-

व्यक्ति हुई है, और कहीं कहीं कोमल कल्पनाओं तथा मनोहारिणी उक्तियों से इसमें अपूर्व काव्यचमत्कार आ गया है। रसात्मकता के विचार से इसकी गणना हिन्दी के थोड़े से उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थों में हो सकती है। भाषा की प्राचीनता के कारण यह ग्रन्थ अब साधारण जनता के लिए दुरूह हो गया है, अन्यथा राष्ट्रोत्थान के इस युग में पृथ्वीराजरासो की उपयोगिता बहुत अधिक हो सकती थी।

वीरगाथा काल के प्रबन्ध काव्यों के रचयिताओं में भट्टकेदार का जिसने जयचन्दप्रकाश, मधुकर का जिसने जयमयंकजसचन्द्रिका, सारंगधर का जिसने हम्मीरकाव्य और नल्लसिंह का जिसने विजयपालरासो लिखा, उल्लेख मिलता है, जिससे यह प्रकाशित होता है कि इस प्रकार के काव्यों की परंपरा बहुत दिनों तक चली थी। पर राजपुताने में इस प्रकार की प्राचीन पुस्तकों की खोज न होने तथा अनेक ग्रन्थों के उनके मालिकों के मोह, अविवेक अथवा अदूरदर्शिता के कारण अँधेरी कोठरियों में बन्द पड़े रहने के कारण इस परंपरा का पूरा-पूरा इतिहास उपस्थित करने की सामग्री का सर्वथा अभाव हो रहा है।



पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय

उपाध्याय जी का जन्म वि० संवत् १९२८ में हुआ। वि० सं० १९३६ में आपने मिडिल की परीक्षा पास की और पाँच वर्ष बाद निजामाबाद की तहसीली स्कूल में अध्यापक हो गये। तीन वर्ष बाद नार्मल परीक्षा पास किया। इसके बाद कानूनगोई आदि कई सरकारी पदों पर काम करते रहे।

उपाध्याय जी नौकरी करते हुए भी साहित्य-सेवा में रत रहे। 'बोलचाल' 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे' आपकी कविताओं के संकलनग्रन्थ हैं। 'रसकलस' व्रजभाषा का काव्य है, 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही बनवास' आपके महाकाव्य हैं। प्रिय प्रवास पर आपको संवत १९८५ में मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्राप्त हो चुका है। 'अधखिला फूल' और 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' आपके दो उपन्यास हैं।

समीक्षाकार की दृष्टि से 'प्रियप्रवास की' भूमिका में हिन्दी काव्य के विकास पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार कबीरवचनावली की भूमिका काफी खोज के साथ लिखी गई है। पटना विश्व-विद्यालय में आपने हिन्दी भाषा और उसके साहित्य के विकास पर बहुत ही गम्भीर और विवेचनापूर्ण व्याख्यान दिये हैं।

समालोचना के रचनात्मक क्षेत्र में आपने काफी खोजबीन के साथ कार्य किया है। गम्भीरता और पांडित्य के साथ आपने श्रेष्ठ कवियों के जीवन और काव्य पर प्रकाश डाला है। आपकी समालोचना शैली भी परिष्कृत और गम्भीर है।

साहित्य

हिन्दी भाषा साहित्य के विकास पर कुछ लिखने के पहले मैं यह निरूपण करना चाहता हूँ कि साहित्य किसे कहते हैं। जब तक साहित्य के वास्तविक रूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा, तब तक इस बात की उचित मीमांसा न हो सकेगी, कि उसके विषय में अब तक हिन्दी संसार के कवियों और महाकवियों ने समुचित पथ अवलम्बन किया या नहीं और साहित्य विषयक अपने कर्तव्य को उसी रीति से पालन किया या नहीं, जो किसी साहित्य को समुन्नत और उपयोगी बताने में सहायक होती है। प्रत्येक समय के साहित्य में उस काल के परिवर्तनों और संस्कारों का चिन्ह मौजूद रहता है। इसलिए जैसे जैसे समय की गति बदलती रहती है, साहित्य भी उसी प्रकार विकसित और परिवर्तित होता रहता है। अतएव यह आवश्यक है कि पहले हम समझ लें कि साहित्य क्या है? इस विषय का यथार्थ बोध होने पर विकास की प्रगति भी हमको यथातथ्य अवगत हो सकेगी।

"साहितस्य भावः साहित्यम्" जिसमें सहित का भाव हो उसे साहित्य कहते हैं। इसके विषय में संस्कृत साहित्यकारों ने जो संमतियां दी हैं मैं उनमें से कुछ को नीचे लिखता हूँ। उनके अवलोकन से भी साहित्य की परिभाषा पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ेगा। श्राद्ध विवेककार कहते हैं :—

"परस्परसापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेकक्रियान्वयित्वं साहि-

ष्यम्।" शब्दशक्तिप्रकाशिका के रचयिता यह लिखते हैं:—"तुल्यव-देकक्रियान्वयित्वम् बुद्धिविशेषविषयित्वं वा साहित्यम्" । शब्द कल्पद्रुमकार की यह सम्मति है:—मनुष्यकृतश्लोकमयग्रंथविशेषः साहित्यम्" । कवीन्द्र 'रवीन्द्र' कहते हैं:—"सहित शब्द से साहित्य की उत्पत्ति है, अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव का भाव के साथ भाषा का, भाषा के साथ ग्रंथ का ग्रंथ के साथ मिलन है। यही नहीं वरन् वह बतलाता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के सहित निकट का अत्यन्त अंतरंग योगसाधन साहित्यव्यतीत और किसी के द्वारा सम्भव नहीं। जिस देश में साहित्य का अभाव है उस देश के लोग सजीव बन्धन में बँधे नहीं, विच्छिन्न होते हैं।"*

"श्राद्धविवेक" और "शब्दशक्तिप्रकाशिका" ने साहित्य की जो व्याख्या की है "कवींद्र" का कथन एक प्रकार से उसकी टीका है। वह व्यापक और उदात्त है। कुछ लोगों का विचार है कि साहित्य शब्द काव्य के अर्थ में रूढ़ि है। "शब्दकल्पद्रुम" की कल्पना कुछ ऐसी ही है। परन्तु ऊपर की शेष परिभाषाओं और अवतरणों से यह विचार एकदेशीय पाया जाता है। साहित्य शब्द का जो शाब्दिक अर्थ है वह स्वयं बहुत व्यापक है। उसको संकुचित अर्थ में ग्रहण करना संगत नहीं। साहित्य समाज का जीवन है वह उसके उत्थान

---

*देखिये साहित्य 'नामक बंगला ग्रन्थ का पृ० ५०

पतन का साधन है, साहित्य के उन्नत होने से और उसके पतन से समाज पतित होता है। साहित्य वह आलोक है जो देश को अंधकाररहित, जातिमुख को उज्वल और समाज के प्रभाहीन नेत्रों को सप्रभ रखता है। वह सबलजाति का बल, सजीव जाति का जीवन, उत्साहित जातिका उत्साह, पराक्रमी जाति का पराक्रम, अध्यवसायशील जातिका अध्यवसाय, साहसी जातिका साहस और कर्तव्यपरायण जाति का कर्तव्य है।

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में साहित्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है:—

"Literature, a general term, which in default of precise definition, may stand for the best expression of the best thought reduced to writing. Its varoius forms are the results of race peculiarities, or of diverse individual temperament or of political circumstances, secruing the predominance of one social class which is thus enabled to propagate its ideas and sentiments."

Encyclopaedia Britannica

"साहित्य एक व्यापक शब्द है जो यथार्थ परिभाषा के अभाव में सर्वोत्तम विचार की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति के स्थान में व्यवहृत हो सकता है। इसके विचित्र रूप जातीय विशेषताओं के अथवा विभिन्न व्यक्तिगत प्रकृति के अथवा ऐसी राजनैतिक परिस्थितियों के परिणाम हैं जिनसे एक सामाजिक वर्ग का आधिपत्य सुनिश्चित होता है और वह अपने विचारों और भावों का प्रचार करने में समर्थ होता है।"

इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका

As behind every book that is written lies the personality of the man who wrote it and as behind every national Literature lies the character of the race which produced it, so behind the literature of any period lie the combined forces-personal and impersonal-which made the life of that period, as a whole what it was. Literature is only one of the many channels in which the energy of one age discharges itself; in its political movements, religious thought, philosophical speculation, art, we have the same energy overflowing into other forms of expression."

The study of literature, william
Henry Hudson

जैसे प्रत्येक ग्रंथ की ओट में उसके रचयिता का और प्रत्येक राष्ट्रीय साहित्य की ओट में उसको उत्पन्न करने वाली जाति का व्यक्तित्व छिपा रहता है वैसे ही कालविशेष के साहित्य की ओट में उस काल के जीवन को रूपविशेष प्रदान करने वाली व्यक्तिमूलक और अव्यक्तिमूलक अनेक संयुक्त शक्तियां काम करती रहती हैं। साहित्य उन अनेक साधनों में से एक है जिसमें कालविशेष की स्फूर्ति अपनी अभिव्यक्ति पाकर उन्मुक्त होती है, यही स्फूर्ति परिप्लावित होकर राजनैतिक आंदोलनों, धार्मिक विचार दार्शनिक तर्क वितर्क और कलामें प्रकट होती है।

स्टडी आफ़् लिटरेचर विलियम हेनरी हड्सन्

वह धर्मभाव जो सब भावनाओं का विभव है, वह ज्ञान-गरिमा

जो गौरव कामुक को सगौरव करती है, वह विचारपरंपरा जो विचार-शीलता की शिला है, वह धारणा जो धरणी में सजीव जीवनधारण का आधार है, वह प्रतिभा जो अलौकिकता से प्रतिभासित हो पतितों को उठाती है, लोचनहीन को लोचन देती है और निरावलंब का अवलंब होती है, वह कविता जो सूक्तिसमूह की प्रसविता हो, संसार की सारवत्ता बतलाती है। वह कल्पना जो कामदकल्पलतिकावत सुधा फल फलाती है, वह रचना जो रुचिर रुचि सहचरी है, वह ध्वनि जो स्वर्गीय ध्वनि से देश को ध्वनित बनाती है, साहित्य का संबल और विभूति है। वह सजीवता जो निर्जीवतासंजीवनी है, वह साधना जो समस्त सिद्धि का साधन है वह चातुर्य जो चतुर्वर्ग जनती है, एवं वह चारु चरितावली जो जाति चेतना और चेतावनी की परिचायिका है, जिस साहित्य की सहचरी होती है वास्तव में वह साहित्य ही साहित्य कहलाने का अधिकारी है। मेरा विचार है कि साहित्य ही वह कसौटी है जिसपर किसी जाति की सभ्यता कसी जा सकती है। असभ्य जातियों में प्रायः साहित्य का अभाव होता है। इसलिये उनके पास वह संचित संपत्ति नहीं होती जिसके आधार से वे अपने अतीत काल का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकें और उसके आधार से अपने वर्तमान और भावी संतानों में वह स्फूर्ति भर सके, जिसको लाभकर सभ्य जातियां समुन्नतिसोपान पर आरोहण करती हैं। इसीलिये उनका जीवन प्रायः ऐसी परिमित परिधि में बद्ध होता है जो उनको देशकाल के अनुकूल नहीं बनने देता और न उनको उन परिस्थितियों का यथार्थ ज्ञान होने देता है जिनको

अनुकूल बना कर वे संसार क्षेत्र में अपने को गौरवित अथवा यथार्थ सुखित बना सकें। यह न्यूनता उनके प्रतिदिन अधःपतन का कारण होती है और उनको उस अज्ञानांधकार से बाहर नहीं निकलने देती जो उनके जीवन को प्रकाशमय अथवा समुज्वल नहीं बनने देता। सभ्य जातियां सभ्य इसीलिये हैं और इसीलिये देशकालानुसार समुन्नत होती रहती हैं कि उनका आलोकमय वर्तमान साहित्य उनके प्रगतिप्राप्तपथ को तिमिररहित करता रहता है। ऐसी अवस्था में साहित्य की उपयोगिता और उपकारिता स्पष्ट है। आज जितनी जातियां समुन्नत हैं उन पर दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि जो जातियां जितनी गौरव प्राप्त और महिमामयी हैं उनका साहित्य भी उतना ही प्रशस्त और महान् है। क्या इससे साहित्य की महत्ता भली भाँति प्रकट नहीं होती?

जो जातियां दिन दिन अवनतिगर्त में गिर रही हैं उनके देखने से यह ज्ञात होता है कि उनका पतन का हेतु उनका वह साहित्य है जो समयानुसार अपनी प्रगति को न तो बदल सका और न अपने को देशकालानुसार बना सका। अधिकांश मानवी संस्कारों को साहित्य ही बनाता है। वंशगत विचार-परंपरा ही मानव जाति के संस्कारों की जननी होती है। जिस जाति के साहित्य में विलासिता की धारा चिरकाल से बहती आई हो उस जाति में यदि शूरता और कर्मशीलता का अभाव प्रायः देखा जाय तो क्या आश्चर्य है! इसी प्रकार जिस जाति के साहित्य में विरागधारा प्रबलतर गति से प्रवाहित होती रहे, यदि वह संसार-त्यागी बनने का मन्त्रपाठ करे तो कोई

विचित्रता नहीं, क्योंकि जिन विचारों और सिद्धांतों को हम प्रायः पुस्तकों में पढ़ते रहते हैं, विद्वानों के मुख से सुनते हैं, अथवा सभा समाजों में घर और बाहर जिनका अधिकतर प्रचार पाते हैं, उनसे प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकते हैं ? क्योंकि सिद्धांत और विचार ही मानव की मानसिक भावों का संगठन करते हैं।

इन कतिपय पंक्तियों में जो कुछ कहा गया उससे यह सिद्ध होता है कि साहित्य का देश और समाज पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि वे साहित्य के आधार से विकसित होते, बनते और बिगड़ते हैं तो साहित्य भी उनकी सामयिक अवस्थाओं पर अवलंबित होता है। हाँ इन दोनों का सामञ्जस्य यथारीति सुरक्षित रहता है और उचित और आवश्यक पथ का त्याग नहीं करता वहां एक दूसरे के आधार से पुष्पित, पल्लवित और उन्नत होता है, अन्यथा पतन उसका निश्चित परिणाम है। मेरा विचार है कि इन बातों पर दृष्टि रखने से साहित्यविकास का प्रसंग अधिकतर बोधगम्य होगा।



भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

बाबू हरिश्चन्द्र इस काल के प्रधान कवि हैं। प्रधान कवि ही नहीं; हिन्दी साहित्य में गद्य की सर्वसम्मत और सर्वप्रिय शैली के उद्भावक भी आप ही हैं। हम इस स्थान पर यही विचार करेंगे कि उनके द्वारा हिन्दी पद्य में किन प्राचीन भावों का विकास और किन नवीन भावों का प्रवेश हुआ। बाबू हरिश्चन्द्र वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय के थे। इसलिये भगवान श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीमती राधिका में उनका अचल अनुराग था। इस सूत्र से वे ब्रजभाषा के भी अनन्य प्रेमी थे। उनकी अधिकांश रचनायें प्राचीन शैली की हैं और उनमें राधाकृष्ण का गुणानुवाद उसी भक्ति और श्रद्धा के साथ गाया गया है जिससे अष्टछाप के वैष्णवों की रचना को महत्ता प्राप्त है। उन्होंने न तो कोई रीति ग्रन्थ लिखा है और न कोई प्रबन्धकाव्य। किंतु उनकी स्फुट रचनायें इतनी अधिक हैं जो सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले मनुष्य द्वारा ही प्रस्तुत की जा सकती हैं।

उन्होंने टोलियों, पर्वों, त्योहारों और उत्सवों पर गाने योग्य सहस्रों पद्यों की रचना की है। प्रेमरस से सिक्त ऐसे ऐसे कवित्त और सवैये बनाये हैं जो बड़े ही हृदयग्राही हैं। जितने नाटक या अन्य गद्यग्रंथ उन्होंने लिखे हैं उन सबमें जितने पद्य आये हैं, वे सब ब्रजभाषा ही में लिखे गये हैं। इतने प्राचीनता प्रेमी होने पर भी उनमें नवीनता भी दृष्टिगत होती है। वे देश-दशा पर आंसू बहाते हैं, जाति-

ममता का राग अलापते हैं, जाति की दुर्बलताओं की ओर जनता की दृष्टि आकर्षित करते हैं और कानों में वह मन्त्र फूँकते हैं जिससे चिरकाल की बन्द आँखें खुल सकें। उनके 'भारत-जननी' और 'भारतदुर्दशा' नामक ग्रन्थ इसके प्रमाण हैं। बाबू हरिश्चन्द्र ही वह पहले पुरुष हैं जिन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य में देश-प्रेम और जाति-ममता की पवित्र धारा बहाई। वे अपने समय के मयंक थे। उनकी उपाधि 'भारतेन्दु' है। इस मयंक के चारों ओर जो जगमगाते हुए तारे उस समय दिखलाई पड़े उन सबों में भी उनकी कला का विकास दृष्टिगत हुआ। सामयिकता की दृष्टि से उन्होंने अपने विचारों को कुछ उदार बनाया: और ऐसे भावों के भी पद्य बनाये जो धार्मिक संकीर्णताको व्यापकता में परिणत करते हैं। 'जैन कौतू-हल' इनका ऐसा ही ग्रन्थ है। उनके समय में उर्दू शायरी उत्तरोत्तर समुन्नत हो रही थी। उनके पहले और उनके समय में ऐसे उर्दू भाषा के प्रतिभाशाली कवि उत्पन्न हुये जिन्होंने उसको चार चाँद लगा दिये। उनका प्रभाव भी इन पर पड़ा और इन्होंने अधिक उर्दू शब्दों को ग्रहण कर हिन्दी में 'फूलों का गुच्छा' नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें लावनियाँ हैं जो खड़ी बोली में लिखी गई हैं। वे यद्यपि हिन्दी भाषा ही में रचित हैं परन्तु उनमें उर्दू का पुट पर्याप्त है। यदि सच पूछिये तो हिन्दी में स्पष्ट रूप से खड़ी बोली की रचना का प्रारम्भ इसी ग्रन्थ से होता है। मैं यह नहीं भूलता हूँ कि यदि सच्चा श्रेय हिन्दी मे खड़ी बोली की कविता पहले लिखने का किसी को प्राप्त है तो वे महंत सीतल हैं। वरन् मैं यह कहता हूँ कि इस

उन्नीसवीं शताब्दी में पहले पहल यह कार्य भारतेन्दु जी ही ने किया। कुछ लोग उसको उर्दू ही की रचना मानते हैं। परन्तु मैं यह मानने के लिये तैयार नहीं। इसलिए कि जैसे हिन्दी भाषा और संस्कृत के तत्सम शब्द उसमें आये हैं वैसे शब्द उर्दू की रचना में आते ही नहीं।

बाबू हरिश्चन्द्र नवीनता-प्रिय थे, और उनकी प्रतिभा मौलिकता से स्नेह रखती थी। इसलिये उन्होंने नई नई उद्भावनायें अवश्य कीं, परन्तु प्राचीन ढंग की रचना ही का आधिक्य उनकी कृतियों में है। ऐसी ही रचना करके वे यथार्थ आनन्द का अनुभव भी करते थे। उनके दृश्यों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनके छोटे बड़े ग्रन्थों की संख्या लगभग १०० तक पहुँचती है। इनमें पद्य के ग्रन्थ चालीस पचास से कम नहीं हैं। परन्तु ये समस्त ग्रन्थ लगभग ब्रजभाषा ही में लिखे गये हैं। उनकी भाषा सरस और मनोहर होती थी। वैदर्भी वृत्ति के ही वे उपासक थे। फिर भी उनकी कुछ ऐसी रचनायें हैं जो अधिकतर संस्कृतगर्भित है। वे सरल से सरल और दुरूह से दुरूह भाषा लिखने में सिद्धहस्त थे। गजलें भी उन्होंने लिखी हैं जो ऐसी हैं जो उर्दू के उस्तादों के शेरों की समता करने में समर्थ हैं। मैं पहले कह चुका हूँ कि वे प्रेमी जीव थे। इसलिये उनकी कविता में प्रेम का रङ्ग बड़ा गहरा है। उनमें भक्ति भी थी और भक्तिमय स्तोत्र भी उन्होंने अपने इष्टदेव के लिखे हैं, परन्तु जैसी उच्चकोटि की उनकी प्रेम सम्बन्धी रचनायें हैं वैसी अन्य नहीं। उनकी कविता को पढ़कर यह

ज्ञात होता है कि उनकी कवि कृति इसी में अपनी चरितार्थता समझती है कि वह भगवल्लीला-मयी हो। वे विचित्र स्वभाव के थे। कभी तो वह कहते:—

जगजिन तृण सम करि तज्यो अपने प्रेम प्रभाव।
करि गुलाब सों आचमन लीजत वा को नांव।
परम प्रेम निधि रसिक वर अति उदार गुन खान।
जग जन रंजन आशु कवि को हरिचन्द समान।

कभी सगर्व होकर यह कहते:—

चन्द टरै सूरज टरै टरै जगत के नेम।
पै दृढ़ श्री हरिचन्द को टरै न अविचल प्रेम।

जब वे अपनी सांसारिकता को देखते और कभी आत्मग्लानि उत्पन्न होती तो वह कहने लगते :—

जगत जाल में नित्य बँध्यो पर्‌यो नारि के फंद।
मिथ्या अभिमानी पतित झूठो कवि हरिचन्द।

उनकी जितनी रचनाये हैं इसी प्रकार विचित्रताओं से भरी हैं। कुछ उनमें से आप लोगों के सामने उपस्थित की जाती हैं —

(१) इन दुखियान को न सुख सपनेहूँ मिल्यो
यों ही सदा व्याकुल विकल अकुलायँगी।
प्यारे हरिचन्दजू की बीती जानि औधि जो पै
जैहैं प्रान तऊ एतो संग ना समायँगी।

देख्यो एक बार हूँ न नैन भरि तोहि याते
जौन जौन लोक जैहैं तहाँ पछतायंगी।
बिना प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय
मुएहूँ पै आँखें ये खुली ही रह जायँगी।

(२) हौं तो याही सोच में विचारत रही रे काहें
दपरन हाथ ते न छिन बिसरत हैं।
त्यों ही हरिचन्द जू वियोग औ सँयोग दोऊ
एक से तिहारे कछु लखि न परत है।
जानी आज हम ठकुरानी तेरी बात तूतो
परम पुनीत प्रेम-पथ विचरत है।
तेरे नैन मूरति पियारे की बसति ताहि
आरसी में रैन दिन देखिबो करत है।

(३) जानि सुजान हौं नेह करी सहि कै
बहु भाँतिन लोक हँसाई।
त्यों हरिचन्द जू जो जो कह्यो
सो कर्यो चुप ह्वै करि कोरि उपाई।
सोऊ नहीं निबही उनसों
उन तोरत बार कछू न लगाई।
साँची भई कह नावतिया अरी
ऊँची दुकान की फीकी मिठाई।

(४) आजु लौं जौन मिले तो कहा हम तो तुम्हरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपने भाग को पावैं।

जो हरिचन्द भई सो भई अब प्रान चले चहैं याते सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा के समै सब कंठ लगावैं।

(५) पियारो पैये केवल प्रेम में
नाहिं ज्ञान में, नाहिं ध्यान में, नाहिं करमकुल नेम में।
नहिं मन्दिर में नहिं पूजा में, नहिं घन्टा की घोर में।
हरीचन्द वह बाँध्यो डोलै एक प्रेम की डोर में।

(६) सम्हारहु अपने को गिरधारी।
मोर मुकुट सिर पाग पेच कसि राखहु अलक सँवारी।
हिय हलकत बनमाल उठावहु मुरली धरहु उतारी।
चक्रादिकन सान है राखो कंकन फँसत निवारी।
नूपुर लेहु चढ़ाय किंकिनी खींचहु करहु तयारी।
पियरो पर परिकर करि कसिकै बाँधो हो बनवारी।
हम नाहीं उनमें जिनको तुम सहजहिं दीन्हों तारी।
बानो जुगओ नीके अबकी हरीचन्द की बारी।

एक उर्दू की गज़ल भी देखिये--

दिल मेरा ले गया दग़ा करके।
बेवफ़ा हो गया वफ़ा करके।
हिज्र की शब घटाही दी हमने।
दास्तां जुल्फ की बढ़ा करके।
वक़्ते रहलत जो आये बालीं पर।
खूब रोये गले लगा करके।

सर् वे क़ीमत ग़ज़ब की चालसे तुम।
क्यों क़यामत चले बपा करके।
खुद ब खुद आज जो वह बुत आया।
मैं भी दौड़ा खुदा खुदा करके।
दोस्तो कौन मेरी तुरबत पर।
रो रहा है रसा रसा करके।

(८) श्री राधा माधव युगल प्रेम रस का अपने को मस्त बना।
पी प्रेम पियाला भर भरकर कुछ इसमें का भी देख मज़ा।
इतबार न हो देख न ले क्या हरीचन्द का हाल हुआ।

(९) नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्तामनि पोहति।
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत।

(१०) तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूलसों जल परसन हित मनहुँ सुहाये।
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा।
मनु आतप वारन तीर को सिमिटि सबै छायो रहत।
कै हरि सेवा हित नै रहे निरखि नयन मन सुख लहत।

उनकी इस प्रकार की रचनायें भी मिलती हैं जिनमें खड़ी बोली का पुट पाया जाता है। जैसे यह पद्य:—

डंका कूच का बज रहा मुसाफिर जागो रे भाई।
देखो लाद चले पंथी सब तुम क्यों रहे भुलाई।
जब चलना ही निश्चय है तौ लै किन माल लदाई।
हरीचन्द हरिपद बिनु नहिं तौ रहि जैहौं मुँह बाई।

किन्तु उनकी इस प्रकार की रचना बहुत थोड़ी है। क्योंकि उनका विश्वास था कि खड़ी बोल-चाल में सरस रचना नहीं हो सकती। उन्होंने अपने हिन्दी भाषा नामक ग्रन्थ में लिखा है कि खड़ी बोली में दीर्घान्त पद अधिक आते हैं। इसलिये उसमें कुछ न कुछ रूखापन आ ही जाता है। इस विचार के होने के कारण उन्होंने खड़ी बोल-चाल की कविता करने की चेष्टा नहीं की। किन्तु आगे चलकर समय ने कुछ और ही दृश्य दिखाया, जिसका वर्णन आगे किया जायगा। बाबू हरिश्चन्द्र जो रत्न हिन्दी भाषा के भण्डार को प्रदान कर गये हैं वे बहुमूल्य हैं। यह बात मुक्तकंठ से कही जा सकती है।



पंडित रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी का जन्म वि० सं० १६४१ में हुआ। आपने मिर्जा-पुर के लण्डन मिशन स्कूल से एन्ट्रेंस की परीक्षा पास की और कायस्थ पाठशाला में एफ० ए० पढ़ने के लिये आये। पर फिर आप लौट गये और मिशन स्कूल में मास्टरी कर ली। नागरी-प्रचारिणी सभा के संस्थापन में भी आपने काफी सहयोग दिया। आप अभी तक हिन्दू यूनिवर्सिटी के हिन्दी विभाग में अध्यापक रहे। अभी दो मास पूर्व दमे के कारण आपकी अकाल मृत्यु हुई।

आपने 'बुद्ध चरित' नामक ब्रजभाषा में लाइट आफ एशिया का पद्यानुवाद निकाला है। इसके अतिरिक्त 'शिशिर-पथिक' आदि आपकी स्फुट कविताएँ हैं।

जिन पुस्तकों के कारण शुक्ल जी का महत्व है वे समालो-चनात्मक हैं। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' सूर, तुलसी और जायसी की विशद समालोचनाएँ--यही हिन्दी साहित्य को शुक्ल जी की देन है। यह कुछ कम नहीं है। भारतीय समीक्षा भवन के निर्माण में आपने वैज्ञानिक समालोचना प्रणाली का अनुसरण किया। आपका हिन्दी साहित्य का इतिहास' जितना वैज्ञानिक और सर्वाङ्गपूर्ण है उतना शायद ही किसी का हो।

आपने सिद्धान्त के आगे बड़े बड़े कवियों का भी खण्डन किया है। तुलसीदास की श्रेष्ठता आपने स्वीकार की है, पर उनमें भी, 'कुछ खटकने वाली बातें' वाले शीर्षक में दोष निकाले हैं। जायसी के महत्व को उन्होंने हमारे सामने रखा है। करीब ३०० पृष्ठ की भूमिका लिखकर जायसी को बहुत ही उच्चकोटि तक पहुँचा दिया है। आजकल के छायावाद के आप कट्टर समालोचक हैं। पर छायावाद के महत्व को आपने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक पुस्तक में खूब ही स्पष्ट किया है। वास्तविक छायावादियों की आपने प्रशंसा भी की है। 'साहित्य के इतिहास' के नवीन संस्करण में पंतजी और श्री महादेवी वर्मा को काफी ऊँचा स्थान मिला है।

जिस वैज्ञानिक शैली का आपने अपनी समालोचनाओं में अनुसरण किया उसी के उपयुक्त आपकी विद्वत्ता भी है। आप गम्भीर मननशील पंडित हैं। संस्कृत तथा पाश्चात्य साहित्य दोनों का आपने अध्ययन किया है। आपने मैथ्यूआर्नल्ड की इस को सदा अनुसरण करने की कोशिश की है—"समालोचक को सदा निष्पक्ष होना चाहिये।"



प्रेम गाथा की परम्परा

सौ वर्ष से पहले कबीर हिंदू और मुसलमान दोनों के कट्टरपन को फटकार चुके थे। पंडितों और मुल्लाओं की तो नहीं कह सकते पर साधारण जनता राम रहीम की एकता मान चुकी थी। साधुओं और फ़कीरों को दोनों दीन के लोग आदर और संमान की दृष्टि से देखते थे। साधु या फ़कीर भी सर्व प्रिय वे ही हो सकते थे जो भेद-भाव से परे दिखाई पड़ते थे। बहुत दिनों तक एक साथ रहते रहते हिंदू और मुसलमान एक दूसरे के सामने अपना अपना हृदय खोलने लगे थे, जिससे मनुष्यता के सामान्य भावों के प्रवाह में मग्न होने और करने का समय आगया था। जनता की प्रवृति भेद से अभेद की ओर हो चली थी। मुसलमान हिन्दुओं की रामकहानी सुनने को तैयार हो गये थे और हिंदू मुसलमानों का दास्तान हमज़ा। नलदमयंती की कथा मुसलमान जानने लगे थे और लैलामजनू की हिंदू। ईश्वर तक पहुंचाने वाला मार्ग ढूँढ़ने की सलाह भी दोनों कभी कभी साथ बैठकर करने लगे थे। इधर भक्तिमार्ग के आचार्य और महात्मा भगवत्प्रेम को सर्वोपरि ठहरा चुके थे। और उधर सूफ़ी महात्मा मुसलमानों को "इश्क़ हक़ीक़ी" का सबक़ पढ़ाते आ रहे थे।

चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य और रामानंद के प्रभाव से प्रेम प्रधान वैष्णव धर्म का जो प्रवाह बंगदेश से लेकर गुजरात तक बहा, उसका सबसे अधिक विरोध शाक्तमत और वाममार्ग के साथ दिखाई

पड़ा। शाक्तमत विहित पशुहिंसा, मंत्र-तंत्र तथा यक्षिणी आदि की पूजा वेद विरुद्ध अनाचार के रूपमें समझी जाने लगी। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के बीच साधुता का सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हो गया था। बहुत से मुसलमान फकीर भी अहिंसा का सिद्धांत स्वीकार करके मांस-भक्षण को बुरा कहने लगे थे।

ऐसे समय में कुछ भावुक मुसलमान 'प्रेम की पीर' की कहानियाँ लेकर साहित्य क्षेत्र में उतरे। ये कहानियाँ हिंदुओं के ही घर की थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन कवियों ने यह दिखला दिया कि एकही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूतेही मनुष्य सारे बाहरी रूप-रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा एकत्व का अनुभव करने लगता है।

अमीर खुसरो ने मुसलमानी राजत्व काल के आरंभ में ही हिंदू जनता के प्रेम और विनोद में योग देकर भावों के परस्पर आदान-प्रदान का सूत्रपात किया था। पर अलाउद्दीन के कट्टरपन और अत्याचार के कारण दोनों जातियाँ एक दूसरे से खींची सी रहीं। उनका हृदय मिल न सका। कबीर की अटपटी बानी से भी दोनों के दिल साफ न हुए। मनुष्य के बीच तो रागात्मक संबंध है, वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के व्यवहार में जिस हृदय साम्य का अनुभव मनुष्य कभी कभी किया करता है उसकी अभि-व्यंजना उससे न हुई। जिस प्रकार दूसरी प्रगति या मत वालों के हृदय हैं उसी प्रकार हमारे भी है। जिस प्रकार दूसरे के हृदय में प्रेम की तरंगे उठती हैं उसी प्रकार हमारे हृदय में भी, पियका वियोग जैसे दूसरे

को व्याकुल करता है वैसे हमें भी। माता का जो हृदय दूसरे के यहाँ है वही हमारे यहाँ भी। जिन बातों से दूसरे को सुख दुःख होता है उन्हीं बातों से हमें भी। इस तथ्यका प्रत्यक्षीकरण, कुतुवन, जायसी आदि प्रेमकहानी के कवियों द्वारा हुआ। अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रक्खा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिंदू-हृदय और मुसलमान-हृदय आमने सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिंदुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण-सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्षसत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता न थी। वह जायसी द्वारा पूरी हुई।

इस नवीन शैली की प्रेम गाथा का आविर्भाव इस बात के प्रमाणों में से है कि इतिहास में किसी राजा के कार्य सदा लोक-प्रवृत्ति के प्रतिबिंब नहीं हुआ करते। इसी बात को ध्यान में रखकर कुछ नवीन पद्धति के इतिहासकार प्रकरणों का विभाग राजाओं के राजत्वकाल के अनुसार न करके लोक की प्रगति के अनुसार करना चाहते हैं। एक ओर तो कट्टर और अन्यायी सिकंदर लोदी मथुरा के मंदिरों को गिराकर मसजिदें खड़ा कर रहा था और हिंदुओं पर अनेक प्रकार के अत्याचार कर रहा था; दूसरी ओर पूरब में बंगाल के शासक हुसेन-

शाह के अनुरोध से, जिसने 'सत्यपीर' की कथा चलाई थी, कुतवन मियाँ, एक ऐसी कहानी लेकर जनता के सामने आए जिसके द्वारा उन्होंने मुसलमान होते हुए भी अपने मनुष्य होने का परिचय दिया। इसी मनुष्यत्व को ऊपर करने से हिंदूपन, मुसलमानपन, ईसाईपन, आदि के उस स्वरूप का प्रतिरोध होता है जो विरोध की ओर ले जाता है। हिंदुओं और मुसलमानों को एक साथ रहते अब इतने दिन हो गये कि दोनों का ध्यान मनुष्यता के सामान्य स्वरूप की ओर स्वभावतः जाय।

कुतबन चिश्ती वंश शेख बुरहान के शिष्य थे। उन्होंने "मृगावती" नामक एक काव्य सन् ९०९ हिजरी में लिखा। इसमें चंद्रनगर के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कंचननगर के राजा रूपमुरार की कन्या मृगावती के प्रेम की कथा है।

जायसी नें प्रेमियों के दृष्टांत देते हुए अपने से पूर्व की लिखी कुछ प्रेम कहानियों का उल्लेख किया है—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कँह गएउ पतारा।
मधूपाछ मुगुधावति लागी। गगन पूर होइगा वैरागी॥
राज कुँवर कंचनपुर गएऊ। मिरगावति कह जोगी भएऊ॥
साध कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कँह सुरसरि साधा। ऊषा लगि अनिरुध बर बाँधा॥

विक्रमादित्य और ऊषाअनिरुद्ध की प्रसिद्ध कथाओं को छोड़ देने से चार प्रेम कहानियाँ जायसी के पूर्व लिखी हुई पाई जाती हैं।

इनमें से "मृगावती" की एक खंडित प्रति का पता तो नागरी प्रचारिणी सभा को लग चुका है। "मधुमालती" की भी फारसी अक्षरों में लिखी हुई एक प्रति मैंने किसी सज्जन के पास देखी थी, पर किसके पास, यह स्मरण नहीं। चतुर्भुजदास कृत "मधु-मालती" की कथा नागरीप्रचारिणीसभा को मिली है जिसका निर्माण-काल ज्ञात नहीं और जो अत्यंत भ्रष्ट गद्य में है। "मुग्धावती" और "प्रेमावती" का पता अभी तक नहीं लगा है। जायसी के पीछे भी "प्रेमगाथा" की यह परम्परा कुछ दिनों तक चलती रही। गाजीपुर निवासी शेख हुसेन के पुत्र उसमान (मान) ने संवत् १६७० के लगभग चित्रावली लिखी जिसमें नैपाल के राजा धरनीधर के पुत्र सुजान और रूपनगर के राजा चित्रसेन की कन्या चित्रावली की प्रेम कहानी है। भाषा इसकी अवधी होने पर भी कुछ भोजपुरी लिये है। यह नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। दूसरी पुस्तक नूरमुहम्मद की "इंद्रावत" है जो संवत् १७९६ में लिखी गई थी। यह भी उक्त सभा प्रकाशित कर चुकी है।

इन प्रेम-गाथा काव्यों के संबध में पहिली बात ध्यान देने की यह है कि इनकी रचना बिलकुल भारतीय चरित काव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है। इनमें कथा सर्गों या अध्यायों में विस्तार के हिसाब से विभक्त नहीं होती; बराबर चली चलती है, केवल स्थान स्थान पर घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्षक के रूप में रहता है। मसनवी के लिये साहित्यिक नियम तो केवल इतना ही समझा जाता है कि सारा काव्य एक ही

मसनवी छंद में हो, पर परंपरा के अनुसार उसमें कथारंभ के पहिले ईश्वरस्तुति, पैगंबर की वंदना और उस समय के राजा (शाह वक्त) की प्रशंसा होनी चाहिये। ये बातें पद्मावत, इंद्रावत, मृगावती इत्यादि सबमें पाई जाती हैं।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि ये सब प्रेम-कहानियां पूर्वी हिंदी अर्थात् अवधी भाषा में एक नियत क्रमके साथ केवल चौपाई दोहे में लिखी गई है। जायसी ने सात सात चौपाइयों (अर्द्धालियों) के बाद एक एक दोहे का क्रम रक्खा है। जायसी के पीछे गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने "रामचरित मानस" के लिये यही दोहे चौपाई का क्रम ग्रहण किया। चौपाई और बरवै-मानो अवधी भाषा के अपने छंद हैं। इनमें अवधी भाषा जिस सौष्ठव के साथ ढली हैं उस सौष्ठव के साथ ब्रजभाषा नहीं। उदाहरण के लिये लाल कवि के "छत्र प्रकाश" पद्माकर के "रामरसायन" और ब्रजवासीदास के "ब्रजविलास" को लीजिये। "बरवै" तो ब्रजभाषा में कहा ही नहीं जा सकता, किसी पुराने कविने ब्रजभाषा में बरवै लिखने का प्रयास भी नहीं किया।

तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि इस शैली की प्रेम कहानियां मुसल्मानों ही के द्वारा लिखी गईं। इन भावुक और उदार मुसलमानों ने इनके द्वारा मानो हिंदू जीवन के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की। यदि मुसलमान हिन्दी और हिन्दू साहित्य से दूर न भागते, इनके अध्ययन का क्रम जारी रखते तो उनमें हिन्दुओं के प्रति सद्भाव की वह कमी न रह जाती जो कभी कभी दिखाई पड़ती है। हिन्दुओं ने

फारसी और उर्दू के अभ्यास द्वारा मुसलमानों की जीवन-कथाओं के प्रति अपने हृदय का सामंजस्य पूर्ण रूप से स्थापित किया। पर खेद है कि मुसलमानों ने इसका सिलसिला बंद कर दिया। किसी जाति की जीवन कथाओं को बारबार सामने लाना उस जातिके प्रति प्रेम और सहानुभूति प्राप्त करने का स्वाभाविक साधन है। "पद्मावत" की हस्तलिखित प्रतियां अधिकतर मुसलमानों के ही घर में पाई गई हैं। इतना मैं अपने अनुभव से कहता हूँ कि जिन मुसलमानों के यहां यह पोथी देखी गई उन सबको मैंने विरोध से दूर और अत्यन्त उदार पाया।



जायसी की प्रवन्ध कल्पना

किसी प्रबंध कल्पना पर और कुछ विचार करने के पहले यह देखना चाहिये कि कवि घटनाओं को किसी आदर्श परिणाम पर ले जाकर तोड़ना चाहता है अथवा योंही स्वाभाविक गति पर छोड़ना चाहता है। यदि कवि का उद्देश्य सत् और असत् के परिणाम दिखाकर शिक्षा देना होगा तो वह प्रत्येक पात्र का परिणाम वैसा ही दिखाएगा जैसा न्याय नीति की दृष्टि से उसे उचित प्रतीत होगा। ऐसे नपे तुले परिणाम काव्य-कला की दृष्टि से कुछ कृत्रिम जान पड़ते हैं।

पद्मावत के कथानक से यह स्पष्ट है कि घटनाओं को आदर्श परिणाम पर पहुँचाने का लक्ष्य कविका नहीं है, यदि ऐसा लक्ष्य होता तो राघवचेतन का बुरा परिणाम बिना दिखाए वह ग्रंथ समाप्त न करता। कर्मों के लौकिक शुभाशुभ परिणाम दिखाना जायसी का उद्देश्य नहीं प्रतीत होता। संसार की गति जैसी दिखाई पड़ती सी है वैसी ही उन्होंने रक्खी है। संसार में अच्छे आदर्श चरित्रवालों का परिणाम भी आदर्श अर्थात् अत्यंत आनंदपूर्ण ही होता हो और बुरे कर्म करने वालों पर अंत में आपत्ति का पहाड़ ही आ टूटता हो, ऐसा कोई निर्दिष्ट नियम नहीं दिखाई पड़ता। पर आदर्श परिणाम के विधान पर लक्ष्य न रहने पर भी जो बात बचानी चाहिये वह बच गई है। किसी सत्पात्र का न तो ऐसा भीषण परिणाम ही दिखाया गया है, जिससे चित्तको क्षोभ प्राप्त होता हो और न किसी बुरे

पात्र की ऐसी सुख समृद्धि ही दिखाई गई है जिस से अरुचि और उदासीनता उत्पन्न होती हो। अंतिम दृश्य से अत्यन्त शांतिपूर्ण उदासीनता बरसती है। कवि की दृष्टि में मनुष्य जीवन का सच्चा अन्त करुणक्रंदन नहीं, पूर्ण शांति है। राजा के मरने पर रानियां बिलाप नहीं करती हैं बल्कि इस लोक से अपना मुँह फेरकर दूसरे लोक की ओर दृष्टि किये आनंद के साथ पतिकी चिता में बैठ जाती हैं। इस प्रकार कवि ने सारी कथा का शांतरस में पर्यवसान किया है। पुरुषों के वीर गति प्राप्त होजाने और स्त्रियों के सती हो जाने पर अलाउद्दीन गढ़के भीतर घुसा और

"छार उठाइ लीन्ह एक मूठी। दीन्ह उड़ाइ पिरिथिवी झूठी।

प्रबंध काव्य में मानवजीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है। उसमें घटनाओं की संबद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक ठीक निर्वाह के साथ साथ हृदय को स्पर्श करने वाले—उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले—प्रयोगों का समावेश होना चाहिये। इतिवृत्तमात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता। उसके लिये घटना चक्र के अंतर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिंबवत् चित्रण होना चाहिये जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरंगे उठाने में समर्थ हो। अतः कहीं तो कविको घटना का संकोच करना पड़ता है और कहीं विस्तार।

घटना का संकुचित उल्लेख तो केवल इतिवृत्त मात्र होता है। उसमें एक एक ब्योरे पर ध्यान नहीं दिया जाता और न पात्रों के हृदय की झलक दिखाई जाती है। प्रबंधकाव्य के भीतर ऐसे

स्थल रसपूर्ण स्थलों की केवल परिस्थिति की सूचना देते हैं। इति-वृत्तरूप इन वर्णनों के बिना उन परिस्थितियों का ठीक परिज्ञान नहीं हो सकता जिनके बीच पात्रों को देखकर श्रोता उनके हृदय की अवस्था का अपनी सहृदयता के साथ अनुमान करते हैं। यदि परिस्थिति के अनुकूल पात्र के भाव नहीं हैं तो विभाव, अनुभाव और संचारी द्वारा उनकी अत्यंत विशदव्यञ्जना फीकी लगती है। प्रबन्ध और मुक्तक में यही बड़ा भारी भेद होता है। मुक्तकमें किसी भाव पद्धति के अनुसार अच्छी व्यंञ्जना हो गई, बस। पर प्रबंध में इस बात पर भी ध्यान रहता है कि वह भाव परिस्थिति के अनुरूप है या नहीं। पात्रकी परिस्थिति भी सहृदय श्रोता के हृदय में पात्र का उद्बोधन करती है। उसके ऊपर से जब श्रोता भाव के अनुकूल उसकी पूर्ण व्यंजना भी पात्र द्वारा होजाती है तब रस की गहरी अनुभूति उत्पन्न होती है। "वनवासी राम स्वर्ण मृग को मार जब कुटी पर लौटे तब देखा कि सीता नहीं है" यह इतिवृत्त मात्र है, पर यह सहृदयों के हृदयको उस दुःखानुभव की ओर प्रेवृत्त कर देता है जिस की व्यंजना राम ने अपने विरह वाक्यों में की। इसी बात को ध्यान में रखकर विश्वनाथ ने कहा है कि प्रबंध के रससे नीरस पद्यों में भी रसवत्ता मानी जाती है—रसवत् पद्यांतर्गतनीरस पदाना मिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्।

जिनके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आजाती है वे मनुष्य जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो कथा प्रवाह के बीच बीच आते रहते हैं। यह समझिये कि काव्य में कथावस्तु की गति इन्हीं स्थलों

तक पहुँचने के लिये होती है। 'पदमावत' में ऐसे स्थल बहुत से हैं—जैसे मायके में कुमारियों की स्वच्छन्द क्रीड़ा, रत्नसेन के प्रस्थान पर नागमती आदिका शोक, प्रेममार्ग के कष्ट, रत्नसेन को सूली की व्यवस्था, उस दन्ड के संवाद से विप्रलंभ दशामें पद्मावती की करुण सहानुभूति, रत्नसेन और पद्मावती का संयोग, सिंहल से लौटते समय की सामुद्रिक घटनाओं से दोनों की विह्वल स्थिति, नागमती की विरह दशा और संदेश, उस संदेश को पाकर रत्नसेन की स्वाभाविक प्रथम स्मृति, अलाउद्दीन के संदेश पर रत्नसेन का गौरवपूर्ण रोष और युद्धोत्साह, गोरा-बादल की स्वामिभक्ति और क्षात्रतेज से भरी प्रतिज्ञा अपनी सजलनेत्रा, भोली भाली नवागता वधू की ओर पीठ फेर बादल का युद्ध के लिये प्रस्थान, देवपालकी दूती के आने पर पद्मावती द्वारा सतीत्व गौरव की अपूर्व व्यंजना, पद्मावती और नागमतीका उत्साहपूर्ण सहगमन, चित्तौर की दशा इत्यादि। इनमें से पांच स्थल तो बहुत ही अगाध और गंभीर हैं। नागमती-वियोग, गोरा बादल प्रतिज्ञा, कुँवर बादल का घरसे निकलकर युद्ध के लिये प्रस्थान, दूती के निकट पद्मावती द्वारा सतीत्व गौरवकी व्यंजना और सहगमन। ये पाँचों प्रसंग ग्रंथ के उत्तर में है। पूर्वार्द्ध तो प्रेम ही प्रेम है। मानव जीवन की ओर और उदात्तवृत्तियों का जो कुछ समावेश है वह उत्तरार्द्ध में है।

जायसी के प्रबन्ध की परीक्षा के लिये सुभीते के विचार से हम उसके दो विभाग कर सकते हैं—इतिवृत्तात्मक और रसात्मक।

पहिले इतिवृत्त लीजिये। प्रबन्ध काव्य में इतिवृत्त की गति इस ढंग

से होना चाहिये कि मार्ग में जीवन की ऐसी बहुतसी दशाएँ पड़ जायँ जिनमें मनुष्य के हृदय में भिन्न भिन्न भावों का स्फुरण होता है और जिनका सामान्य अनुभव प्रत्येक मनुष्य स्वभावतः कर सकता है। इन्हीं स्थलों में रसात्मक वर्णनों की प्रतिष्ठा होती है। अतः इनमें एक प्रकार से इतिवृत या कथाके प्रवाह का विराम सा रहता है। ऐसे रसात्मक वर्णन आदि कभी दिये जांय तो इतिवृत्त खंडित नहीं होता। रसानुकूल परिस्थति तक श्रोता को पहुँचाने के लिये बीचबीच में घटनाओं के सामान्य कथन या उल्लेखमात्र को ही शुद्ध इतिवृत्ति समझना चाहिए, जैसी कि 'रामचरितमानस' की ये चौपाइयाँ हैं :—

आगे चले बहुरि रघुराया।
ऋष्यमूक पर्वत नियराया।
तहँ रहँ सचिव सहित सुग्रीवा।
आवत देखि अतुलबल सींवाँ॥
अति सभीत कह सुनु हनुमाना।
पुरुष जुगल बलरूप निधाना॥
धरि बटु रूप देखु तैं जाई।
कहेसि जानि जिय सैन बुझाई॥

हितोपदेश कथासरित्सागर; सिंहासनबत्तीसी, बैतालपचीसी आदि की कहानियाँ इतिवृत्त रूप में ही हैं, इसीसे उन्हें कोई काव्य नहीं कहता। ऐसी कहानियों से भी श्रोता या पाठक का मनोरंजन होता है, पर वह काव्य के मनोरञ्जन से भिन्न होता है। रसात्मक वाक्यों में मनुष्य के हृदय की वृत्तियां लीन होती हैं और इतिवृत्त से

उसकी जिज्ञासा-वृत्ति तुष्ट होती है। "तब क्या हुआ ?" इस वाक्य द्वारा श्रोता अपनी जिज्ञासा प्रायः प्रकट करते हैं। इससे प्रत्यक्ष है कि जो कहा गया है उसमें कुछ देर के लिए भी श्रोता का हृदय रमा नहीं है, आगे की बात जानने की उत्कंठा ही मुख्य है। कोरी कहानियों में मनोरञ्जन इसी कुतूहल पूर्ण जिज्ञासा के रूप में होता है। उनके द्वारा हृदय की वृत्तियों (रति, शोक आदि) का व्यायाम नहीं होता। जिज्ञासा वृत्ति का व्यायाम होता है। उनका प्रधान गुण घटना वैचित्र्य द्वारा कुतूहल को बनाए रखना ही होता है। कही जाने वाली कहानियाँ अधिकतर ऐसी ही होती हैं। पर कुछ कहानियां ऐसी भी जन-साधारण के बीच प्रचलित होती हैं जिनके बीच-बीच में भावोद्रेक करने वाली दशाएं भी पड़ती चलती हैं। इन्हें हम रसात्मक कहानियां कह सकते हैं। इनमें भावुकता का अंश बहुत कुछ होता है और ये अपढ़ जनता के बीच प्रबन्ध काव्य का ही काम देती हैं। इनमें जहाँ जहाँ मार्मिक स्थल आते हैं वहां वहां कथोपकथन आदि के रूप में कुछ पद्य या गाना रहता है।

ऐसी रसात्मक कहानियों का घटनाचक्र ही ऐसा होता है कि जिसके भीतर सुखदुःख पूर्ण जीवन दशाओं का बहुत कुछ समावेश रहता है। पहले कहा जा चुका है कि "पद्मिनी और हीरामन तोते की कहानी" इसी प्रकार की है। इसके घटनाचक्र के भीतर प्रेम, वियोग, माता की ममता, यात्रा का कष्ट, विपत्ति, आनन्दोत्सव, युद्ध जय पराजय आदि के साथ साथ विश्वासघात, बैर छल स्वामिभक्ति, पातिव्रत, वीरता आदि का भी विधान है। पर 'पद्मावत' शृंगार रस

प्रधान काव्य है। इसके घटनाचक्र के भीतर जीवन दशाओं और मानव सम्बन्धों की वह अनेकरूपता नहीं है जो रामचरितमानस में है। इसमें रामायण की अपेक्षा बहुत कम मानव दशाओं और सम्बन्धों का रसपूर्ण प्रदर्शन और बहुत कम प्रकार के चरित्रों का समावेश है। इसका मुख्य कारण यह है कि जायसी का लक्ष्य प्रेमपथ का निरूपण है। जो कुछ हो यह अवश्य मानना पड़ता है कि रसात्मकता के संचार के लिए प्रबन्ध काव्य का जैसा घटनाचक्र चाहिए पद्मावत का वैसा ही है। चाहे इसमें अधिक जीवनदशाओं को अन्तर्गत करने वाला विस्तार और व्यापकत्व न हो पर इसका स्वरूप बहुत ठीक है।



सूर और तुलसी की उपासना-पद्धति

उपासना पद्धति के कारण सूर और तुलसी की रचना में जो भेद कहा जाता है, उस पर भी थोड़ा ध्यान देना चाहिये। तुलसी की उपासना सेव्यसेवक भाव से कही जाती है और सूर की सख्यभाव से। यहां तक कि भक्तों में सूरदास जी श्रीकृष्ण के सखा उद्धव के अवतार कहे जाते हैं। यहां पर हमें केवल यह देखना है कि इस उपासनाभेद का सूर की रचना के स्वरूप पर क्या प्रभाव पड़ा है। यदि विचार करके देखा जाय तो सूर में जो कुछ संकोच का अभाव या प्रगल्भिता पाई जाती है वह गृहीत विषय के कारण। इन्होंने वात्सल्य और शृंगार ही वर्णन के लिए चुने हैं। जिसे बालक्रीड़ा और शृंगार क्रीड़ा का अत्यन्त विस्तृत वर्णन करना है वह यदि संकोच भाव छोड़ लड़कों की नटखटी, यौवनसुलभ हासपरिहास आदि का वर्णन करेगा तो काम कैसे चलेगा? कालिदास ने भी कुमार संभव में पार्वती के अँग प्रत्यंग का शृंगारी वर्णन किया है। तो क्या उनकी शंकर की उपासना भी सख्य भाव की हुई और उनका वह वर्णन उसी सख्य भाव के कारण हुआ? थोड़ा सा ध्यान देने से ही यह जाना जा सकता है कि आरम्भ में सूर ने जो बहुत दूर तक विनय के पद कहे हैं वे दीन सेवक या दास के रूप में ही कहे हैं। मिलान करने पर सूर की विनयावली और तुलसी की विनय पत्रिका में सखा और सेवक का कोई भेद न पाया जायगा। विनय में सूर भी ऐसा ही

कहते पाए जायँगे 'प्रभु ! हौं सब पतितन को टीको ।' यों तो तुलसी भी प्रेमभाव में मग्न हो सामीप्य और घनिष्टता अनुभव करते हुए 'पूतरा बांधनों के लिए तैयार होकर गए हैं और शबरी आदि को तारने पर कहते हैं—'तारेहु का रही सगाई ?'

इसी साम्प्रदायिक प्रभाव से प्रभावित होकर कुछ महानुभावों ने सूर और तुलसी में प्रकृति भेद बताने का प्रयत्न किया है और सूर को खरा और स्पष्टवादी और तुलसी को सिफारिशी, खुशामदी या लल्लो चप्पो करने वाला कहा है । उनकी राय में तुलसी कभी राम की निन्दा नहीं करते; पर सूर ने "दो चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की निन्दा भी की है । यथा :—

(क) तुम जानत राधा है छोटी ।
हमसों सदा दुरावति है यह बात कहै मुख चोटी पोटी ॥
नन्दनन्दन याही के बस हैं, बिबस देखि बेंदी छबि चोटी ॥
सूरदास प्रभु वै अति खोटे, यह उनहूँ ते अति ही खोटी ॥

(ख) सखी री ! स्याम कहा हित जानैं ।
सूरदास सर्वस जौ दीजै कारो कृतहि न मानैं ॥

पर यह कथन कहाँ तक ठीक है, इसका निर्णय इस प्रश्न के उत्तर द्वारा झटपट हो सकता है । 'सूरदास प्रभु वै अति खोटे,' "कारो कृतहि न मानै" इन दोनों वाक्यों में वाच्यार्थ के अतिरिक्त संलक्ष्य असंलक्ष्य किसी प्रकार का व्यंञ्जनार्थ भी है या नहीं ? यदि किसी प्रकार का व्यंग्य नहीं है तो उक्त कथन ठीक हो सकता है ।

पर किसी प्रकार का व्यंग्यार्थ न होने पर ये दोनों वाक्य रसात्मक न होंगे, इनमें कुछ भी काव्यत्व न होगा। पर हमारे देखने में ये दोनों वाक्य असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य के कारण रसात्मक हैं। इन दोनों पदों पर साहित्यक दृष्टि से जो थोड़ा भी ध्यान देगा वह जान लेगा कि कृष्ण न तो वास्तव में खोटे कहे गये हैं, न कलूटे कृतघ्न। प्रथम वह पद में जो सखी की उक्ति है वह विनोद या परिहास की उक्ति है, सरासर गाली नहीं है। सखी का यह विनोद हर्ष का ही एक स्वरूप है और संचारी के रूप में प्रिय सखी राधा के प्रति रति भाव की व्यंजना करती है, इससे सखी के प्रति उस आनन्द का पता चलता है जो राधाकृष्ण के परस्पर प्रेम को देख उसे हो रहा है। इसी प्रकार दूसरा पद विरहाकुल गोपी का वचन है जिससे कुछ विनोद मिश्रित अमर्ष व्यंजित होता है। यह अमर्ष भी यहाँ रति-भाव का व्यंजक है इसके कहने की आवश्यकता नहीं। यह आरंभ में ही कहा जा चुका है कि कृष्ण और गोपियों का प्रेम लोक मर्यादा से परे जीवनोत्सव या क्रीड़ा के रूप में सामने रखा गया है। इस सम्बन्ध में हमारा केवल यही निवेदन है कि साम्प्रदायिक परिभाषाओं के चक्कर में साहित्यिक दृष्टि खो न देनी चाहिये।

तुलसी पर दूसरा इलजाम, जिससे सूर बरी किये गये हैं, यह है कि वे रह रह कर फ़जूल याद दिलाया करते हैं कि राम परमेश्वर हैं! ठीक है, तुलसी ऐसा ज़रूर करते हैं। पर कहाँ? रामचरितमानस में। पर रामचरितमानस तुलसी का एक मात्र ग्रन्थ नहीं है। उसके अतिरिक्त तुलसीदास जी के और भी कई ग्रन्थ हैं। क्या सब में यही बात

पायी जाती है ? यदि नहीं तो इसका विवेचन करना चाहिये कि रामचरितमानस में ही यह बात क्यों है। मेरी समझ में इसके कारण ये हैं:—

(१) रामचरितमानस की कथा के वक्ता तीन हैं—शिव, याज्ञवल्क्य और काक भुशुंड। श्रोता हैं पार्वती भारद्वाज और गरुड़। इन तीनों श्रोताओं ने अपना यह मोह प्रकट किया है कि कहीं राम मनुष्य तो नहीं हैं। तीनों वक्ता जो कथा कह रहे हैं वह इसी मोह को छुड़ाने के लिए। इसलिए कथा के बीच बीच में याद दिलाते जाना बहुत उचित है। गोस्वामी जी ने भूमिका में ही इस बात को स्पष्ठ करके शंका की जगह नहीं छोड़ी है।

(२) रामचरितमानस एक प्रबन्ध काव्य है जिसमें कथा का प्रवाह अनेक घटनाओं को लेता हुआ लगातार चला चलता है। इस दशा में कथाप्रवाह में मग्न पाठक या श्रोता को असल बात की ओर ध्यान दिलाते रहने की आवश्यकता समय समय पर उस कवि को अवश्य मालूम होगी जो नायक को ईश्वरावतार के रूप में ही दिखाना चाहता है। फुटकर पद्यों में इसकी आवश्यकता न प्रतीत होगी। सूरसागर की शैली पर तुलसी की 'गीतावली' है। उसमें यह बात नहीं पाई जाती। जब कि समान शैली की रचना मिलती है तब मिलाने के लिये उसी को लेना चाहिये।

(३) श्रीकृष्ण के लिए 'हरि जनार्दन' आदि विष्णुवाचक शब्द बराबर लाये जाते हैं, इससे चेतावनी की आवश्यकता नहीं रह जाती। गोपियों ने कृष्ण के लिए बराबर 'हरि' शब्द का व्यवहार किया है।

इस प्रसंग को छोड़ने के पहिले इतना और कह देना चाहता हूँ, कि जिस प्रकार तुलसी ने राम की सान्निध्य प्राप्ति के कारण दशरथ, कौशल्या, केवट, शबरी, जटायु आदि के भाग्य को, शिव सनकादिक के भाग्य से भी बढ़ कर कहा है, उसी प्रकार उन्हीं शब्दों में सूर ने भी जगह, जगह नन्द यशोदा और गोपगोपियों के भाग्य को सराहा है। यह भी याद ही दिलाना है कि कृष्ण परमेश्वर हैं।

सूरदासजी अपने भाव में मग्न रहने वाले थे, अपने चारों ओर की परिस्थिति की आलोचना करने वाले नहीं। संसार में क्या हो रहा है, लोक की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है, इन बातों की ओर उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है। तुलसीदासजी लोक की गति के सूक्ष्म पर्यालोचक थे। वे उसके बीच पैदा होने वाली बुराइयों को तीव्र दृष्टि से देखने वाले थे। जिस प्रकार उन्होंने अपने समय की जनता की दुःखदशा और दुर्वृत्ति तथा मर्य्यादा के ह्रास पर दृष्टिपात किया है; उसी प्रकार लोक मर्य्यादा के ह्रास में सहायता पहुँचाने वाली प्रच्छन्न शक्तियों को भी पहचाना है। किस प्रकार उन्होंने कबीर, दादू, आदि के लोकविरोधी स्वरूप को यह पहचान कर उनके उद्धत व्यक्तिवाद के विरुद्ध घोषणा की, यह गोस्वामीजी की आलोचना में दिखा चुके हैं।* सूरदासजी अपने भाव भजन और मन्दिर के नृत्य गीत में ही लीन रहते थे; इन सब आदेशों से बहुत

---

*देखिए नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित "गोस्वामी तुलसीदास जी" नामक ग्रन्थ।

दुबले नहीं रहते थे, पर 'निर्गुन बानी' की जो हवा बह रही थी, उसकी ओर उनके कान अवश्य थे।

तुलसी की आलोचना में हम सूचित कर चुके हैं कि तुलसी का ब्रजभाषा और अवधी दोनों काव्यभाषाओं पर तुल्य अधिकार था; और उन्होंने जितनी शैलियों की काव्य रचना प्रचलित की थी उन सब पर बहुत उत्कृष्ट रचना की है। यह बात सूर में नहीं है। सूर-सागर की पद्धति पर वैसी ही मनोहारिणी और सरस रचना तुलसी की गीतावली मौजूद है; पर रामचरितमानस और कवितावली की शैली की सूर की कोई कृति नहीं है। इसके अतिरिक्त मनुष्य-जीवन की जितनी अधिक दशायें, जितनी अधिक वृत्तियां, तुलसी ने दिखाई हैं उतनी सूर ने नहीं। तुलसी ने अपने चरित्रचित्रण द्वारा जैसे विविध प्रकार के ऊँचे आदर्श खड़े किये हैं वैसे सूर ने नहीं। तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है और सूर की एक-मुखी होकर उसने अपनी दिशा में जितनी दूर तक भी दौड़ लगाई है उतनी दूर तक भी तुलसी ने भी नहीं; और किसी कवि की तो बात ही क्या है। जिस क्षेत्र को सूर ने चुना है उस पर उनका अधिकार अपरिमित है उसके वे सम्राट् हैं।

सूर की विशेषताओं के इस संक्षिप्त दिग्दर्शन को समाप्त करने के पहिले इतना और कह देने को जी चाहता है कि सूर में साम्प्रदायिकता की छाप तुलसी की अपेक्षा अधिक है। अष्टछाप में वे थे ही। उन्होंने अपनी अनन्य उपासना के अनुसार कृष्ण या हरि को छोड़ और देवताओं की स्तुति नहीं की है। ग्रन्थारंभ में भी प्रथानुसार

गणेश या सरस्वती को याद नहीं किया है। पर तुलसीदास जी की वन्दना कितनी विस्तृत है यह रामचरितमानस और विनयपत्रिका के पढ़ने वाले मात्र जानते हैं। उनमें लोक-संग्रह का भाव पूरा पूरा था। उनकी दृष्टि लोक विस्तृत थी। जनसमाज के बीच, या कम से कम हिन्दू समाज के बीच परस्पर सहानुभूति और सम्मान का भाव तथा सुखद व्यवस्था स्थापित देखने की अभिलाषा भी उनमें बहुत कुछ थी। शिव और राम को एक दूसरे का उपासक बनाकर उन्होंने शैवों और वैष्णवों में भेद बुद्धि रोकने का प्रयत्न किया था। पर सूरदासजी का इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं था।

जो तुलसीदासजी के ग्रन्थों को पढ़ता है वह उन्हें देवताओं से उदासीन भी नहीं समझता, उनका शत्रु और द्रोही समझना तो दूर रहा। इतने पर भी कुछ लोगों ने वनवास के करुण-प्रसंग के भीतर अथवा राम के महत्व आदि की भावना में लीन करने वाले किसी पद में 'सुरस्वारथी' आदि शब्द देखकर यह कहना बहुत जरूरी समझा है कि "सूर ने तुलसी के समान देवताओं को गालियां नहीं दी है।" इस पर यही समझ कर रह जाना पड़ता है कि यह मत वैलक्षण्य के प्रदर्शन का युग है।

गोस्वामी जी का बाह्य दृश्य-चित्रण

यहाँ तक तो गोस्वामी जी की अन्तर्दृष्टि की सूक्ष्मता का कुछ वर्णन हुआ। अब पदार्थों के बाह्य स्वरूप के निरीक्षण और प्रत्यक्षीकरण पर भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिये, क्योंकि ये दोनों बातें भी कवि के लिये बहुत ही आवश्यक हैं। प्रबन्धगत पात्र के चित्रण में जिस प्रकार उसके शील स्वरूप को, उसके अन्तस् की प्रवृत्तियों को प्रत्यक्ष करना पड़ता है उसी प्रकार उसके सौष्ठव को भी प्रत्यक्ष करना पड़ता है। यहीं तक नहीं प्रकृति के नाना रूपों के साथ मनुष्य के हृदय का सामंजस्य दिखाने और प्रतिष्ठित करने के लिये उसे वन, पर्वत, नदी निर्झर आदि अनेक पदार्थों को ऐसी स्पष्टता के साथ अङ्कित करना पड़ता है कि श्रोता या पाठक का अन्तःकरण उनका पूरा बिम्ब ग्रहण कर सके। इस सम्बन्ध में पहिले ही यह कह देना आवश्यक है कि हिन्दी कवियों में प्राचीन संस्कृत कवियों का सा वह सूक्ष्म निरीक्षण नहीं है जिससे प्राकृतिक दृश्यों का पूरा चित्र सामने खड़ा होता है। यदि किसी में यह बात थोड़ी बहुत है तो गोस्वामी तुलसीदास जी में ही।

दृश्य-चित्रण में केवल अर्थ ग्रहण कराना नहीं होता, बिम्बग्रहण भी कराना होता है। यह बिम्ब-ग्रहण किसी वस्तु का नाम ले लेने मात्र से नहीं हो सकता। आस पास की और वस्तुओं के बीच उसकी परिस्थिति तथा नाना अङ्गों की संश्लिष्ट योजना के साथ किसी वस्तु

का जो वर्णन होगा, वही चित्रण कहा जायगा। "कमल फूले हैं" "भौंरे गूंज रहे हैं" "कोयल बोल रही है" यदि कोई इतना ही कह दे तो यह चित्रण नहीं कहा जायगा। लहराते हुए नीले जल के ऊपर कहीं गोल हरे पत्तों के समूह के बीच कमलनाल निकले हैं जिनके झुके हुए छोरों पर रक्ताभ कमल दल छितरा कर फैले हुए हैं इस प्रकार का कथन चित्रण का प्रयत्न कहा जायगा। यह चित्रण वस्तु और व्यापार के सूक्ष्म निरीक्षण पर अवलम्बित होता है। आदि कवि वाल्मिकि तथा कालिदास आदि प्राचीन कवियों में ऐसा निरीक्षण करने वाली समग्र वाह्य सृष्टि से संयुक्त सहृदयता थी जो पिछले कवियों में बराबर कम होती गई और हिन्दी के तो हिस्से ही में न आई। उन्होंने तो कुछ इनी-गिनी वस्तुओं का नाम तो लिया, बस पुरानी रस्म अदा हो गई। फिर भी कहना पड़ता है कि यदि प्राचीन कवियों की थोड़ी बहुत छाया कहीं दिखलाई पड़ती है तो तुलसीदास जी में चित्रकूट, पंचवटी आदि स्थानों में गोस्वामी जी राम-लक्ष्मण को ले गये हैं; पर उनके राम लक्ष्मण में प्रकृति के नाना रूपों और व्यापारों के प्रति वह हर्षोल्लास नहीं है जो वाल्मीकि के राम-लक्ष्मण में है। बाल्मीकि के लक्ष्मण पंचवटी पर जाकर हेमन्त ऋतु की शोभा का अत्यन्त विस्तीर्ण और सूक्ष्म वर्णन करते हैं, उसके एक एक व्योरे पर ध्यान ले जाते हुए अपनी रागात्मिका वृत्ति को लीन करते हैं, पर गोस्वामी जी के लक्ष्मण बैठ कर राम से 'ज्ञान, विराग, माया और भक्ति' की बात पूछते हैं। वाल्मीकि के लक्ष्मण तो जहाँ तक दृष्टि जाती है, वहाँ तक का एक व्योरा इस प्रकार सामने ला रहे हैं:—

अवश्याय निपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला ।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्ट तरुणातपा ।
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यन्त तृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ।
वाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसा ।
हिमार्द्र वालुकैस्तीरैः सरिता भाति साम्प्रतम् ।
जराजर्जरितैः पद्मैःशीर्णकेसरकर्णिकैः ।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भाति कमलाकरः ।

और तुलसीदास जी के लक्ष्मण राम से यह सुन रहे हैं कि—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई !
सो सब माया जानेहु भाई

इतना होने पर भी गोस्वामी जी सच्चे सहृदय भावुक भक्त थे। इस जगत के 'सिया राममय' स्वरूपों से वे अपने हृदय को अलग कैसे रख सकते थे। जब कि उनके सारे स्नेह सम्बन्ध राम के नाते से थे, तब चित्रकूट आदि रम्य स्थलों के प्रति उनके हृदय में गूढ़ अनुराग कैसे न होता, उनके रूप की एक छटा की ओर उनका मन कैसे न आकर्षित होता! जिस भूमि को देखने के लिये वे उत्कंठित होकर अपने चित्त से कहते थे—

अब चित चेत चित्रकूटहिं चलु ।
भूमि विलोकु राम पद-अंकित वन विलोकु रघुबर-विहार-थलु ।

उसके रूप की ओर वे कैसे ध्यान न देते। चित्रकूट उन्हें कैसे अच्छा न लगता? गीतावली में उन्होंने चित्रकूट का बहुत विस्तृत वर्णन किया है। यह वर्णन शुष्क-प्रथा-पालन नहीं है, उस भूमि की एक एक वस्तु के प्रति उमड़ते हुए अनुराग का उद्‌गार है। उसमें कहीं कहीं प्रचलित संस्कृत कवियों का सूक्ष्म निरीक्षण और संश्लिष्ट योजना पाई जाती है, जैसे—

सोहतु स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रङ्गमगे सृङ्गनि।
मनहुँ आदि अम्भोज विराजत सेवित सुर मुनि-भृङ्गनि।
सिखर-परस घन घटहिं मिलति बग-पाँति सो छवि कवि बरनी।
आदि बराह विहरि वारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी।
जल-जुत विमल सिलनि झलकत नभ वन प्रतिबिम्ब तरङ्ग।
मानहुँ जग-रचना विचित्र बिलसति विराट अङ्ग अङ्ग॥
मन्दाकिनिहिं मिलत झरना झरि झरि भरि भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानौ राम भगति के पाछे॥

इस दृश्य की संश्लिष्ट योजना पर ध्यान दीजिये। इसमें योंहीं नहीं कह दिया गया है कि 'बादल छाये हैं' और 'बगलों की पांति उड़ रही है।' मन्द मन्द गरजते हुए काले बादल गेरू से रङ्गे (लाल) शृङ्गों से लगे दिखाई देते हैं और उन शिखर स्पर्शी घटाओं से मिली श्वेत बकपंक्ति दिखाई दे रही है। केवल 'जलद' न कह कर उसमें वर्ण और ध्वनि का भी विन्यास किया गया है। वर्ण के उल्लेख से "जलद" पद में बिम्ब ग्रहण कराने की जो सामर्थ्य आई थी, वह रक्त-शृङ्ग के योग में और भी बढ़ गई और बगलों की श्वेत पंक्ति ने

मिल कर तो चित्र को पूरा ही कर दिया। यदि ये तीनों वस्तुएँ—मेघमाला, शृङ्ग और बकपंक्ति—अलग अलग पड़ी होतीं, उनकी संश्लिष्ट योजना न की गई होती, तो कोई चित्र ही कल्पना में उपस्थित न होता। तीनों का अलग अलग अर्थ ग्रहण मात्र हो जाता, बिम्ब ग्रहण न होता। इसी प्रकार काली शिलाओं पर फैले हुए जल के भीतर आकाश और वनस्थली का प्रतिबिम्ब देखना भी सूक्ष्म निरीक्षण सूचित करता है। अलंकारों पर 'वाह वाह' न कहने पर शायद अलंकार-प्रेमी लोग नाराज़ हो रहे हों; उनसे अत्यन्त नम्र-निवेदन है कि यहां विषय दूसरा है।

अब प्रश्न यह होता है कि गोस्वामी जी ने सारा वर्णन इसी पद्धति से क्यों नहीं किया। गोस्वामीजी हिन्दी कवियों की परंपरा से लाचार थे। कहीं-कहीं इस प्रकार की संश्लिष्ट योजना और सूक्ष्म निरीक्षण का जो विधान दिखाई पड़ता है, उसे ऐसा समझिए कि वह उनकी भावमग्नता के कारण आपसे आप हो गया है। तुलसीदासजी के पहले तीन कैन्डे के कवि हिन्दी में हुए थे—एक तो वीर गाथा गाने वाले पुराने चारण; दूसरे प्रेम की कहानी कहने वाले मुसलमान कवि; और तीसरे केवल वंशीवट और यमुनातट तक दृष्टि रखने वाले पद गाने वाले कृष्णभक्त कवि। इनमें से किसी की दृष्टि विश्वविस्तृत नहीं थी। भक्तिमार्ग के सम्बन्ध से तुलसीदास जी का सान्निध्य सूरदास आदि तीसरे वर्ग के कवियों से ही अधिक था। पर उक्त वर्ग में सबसे श्रेष्ठ कवि जो सूरदास जी हैं उन्होंने भी स्थलों और वस्तुओं आदि का जो वर्णन किया है, वह एक दूसरे भाव के उद्दीपन की दृष्टि से।

वर्णन की शैली भी उनकी पिछले खेवे के कवियों की है जिसमें गिनाई हुई वस्तुओं का उल्लेख मात्र अलङ्कारों से लदा हुआ होता है। ऐसी अवस्था में भी गोस्वामी जी की लेखनी से जो कहीं-कहीं प्राचीन कवियों के अनुरूप संश्लिष्ट चित्रण हुआ है, वह उनके हृदय का स्वाभाविक विस्तार प्रकट करता है और उन्हें हिन्दी के कवियों में सब से ऊँचे ले जाता है।

पर गोस्वामी जी के अधिकांश वर्णन पिछले कवियों के ढंग पर शब्द सौन्दर्य प्रधान ही हैं जिनमें वस्तुओं का परिगणन मात्र है जैसे—

(क) झरना झरहिं सुधासमवारी, त्रिविधतापहर त्रिबिधबयारी।
बिटप बेलि तन अगनित जाती, फलप्रसून पल्लव बहु भाँती॥
सुन्दर सिला सुखद तरु छाही, जाइ बरनिवन छवि केहि पाहीं।
सरनिसरोरुह जल बिहग, कूजत, गुंजत भृङ्ग।
बैर-विगत बिहरत विपिन मृग बिहंग बहुरंग॥

(ख) बिटप बेलि नवकिसलय, कुसुमति सघन सुजाति।
कन्दमूल जलथल सह, अगनित अनवन भाँति॥
मंजुल मंजु, बकुलकुल, सुरतरु, ताल तमाल।
कदलि कन्द बसुचंपक पाटल, पनस रसाल॥
सरित सरन सरसीरुह फूले नाना रंग।
गुंजत मंजु मधुपगन कूजत विविध विहंग॥

पिछले कवियों की शैली पर वर्णन करने में भी वे सबसे बढ़े चढ़े हैं। यह चित्रकूट वर्णन देखिए—

फटिक सिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरुतमाल,
ललित लताजाल हरित छबि बितानकी।
मंदाकिनी तटिनि तीर मंजुल मृग बिहंग भीर,
धीर मुनि गिरा गंभीर सामगान की॥
मधुर पिक बरनि मुखर, सुन्दर गिरि निर्भर भर,
जलकन छनछाँह, छन प्रभात भान की।
सब ऋतु ऋतु प्रभाव संतत बहै तिविध बायु,
जनु बिहार बाटिका नृप पंचबानकी॥

इस वर्णन से इस बात का इशारा मिलता है कि गोस्वामी जी ऋतु वर्णन करने में रीति ग्रन्थों की गिनाई वस्तुओं तक ही नहीं रहते हैं—वे अपनी आँखों से भी पूरा काम लेते हैं। 'ऋतु पति' की शोभा के भीतर केवल रीति पर चलने वाले मोर नहीं लाया करते, पर तुलसीदास जी ने उनकी बोली नहीं बन्द की। केवल पद्धति का अनुसरण करने वाले कवि वर्षाकाल में कोकिल को मौन कर देते हैं। पर तुलसीदास अपने कानों की कहाँ तक उपेक्षा करते हैं! वे गीतावली के उत्तरकांड में हिंडोले के प्रसङ्ग में वर्षा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि:—

दादुर मुदित, भरे सरितसर, महि उमग जनु अनुराग।
पिक, मोर, मधुप, चकोर पातक सोर उपवन बाग॥

उपमा उत्प्रेक्षा दृष्टान्त आदि के साथ गुथे वर्णन भी बहुत से हैं पर उनमें वस्तुओं और व्यापारों का उल्लेख बहुत पूर्ण है। चित्रकूट

की वस्तुओं और व्यापारों को लेकर उन्होंने होली का उत्सव खड़ा किया है—

आजु बन्दो है विपिन देखो रामधीर,
मानो खेलत फागुमुद मदनबीर।
बट बकुल कदम्ब पनस रसाल,
कुसुमित तरुनिकर कुरव तमाल॥
मानो विविध वेष धरे छैल जूथ,
बिचबीच लता ललना बरूथ।
पनबानक निर्झर, अलि उपंग,
बोलत पारावत मानौ डफ मृदंग॥
गायक सुक कोकिल, झिल्लि ताल,
नाचत बहु भाँति बर्टाहि मराल॥

पर उनकी यह उत्पेक्षा भी उल्लास सूचक है। इसी प्रकार भागवत के दृष्टान्त-उदाहरण देकर उन्होंने किष्किन्धाकांड में वर्षा और शरत् का वर्णन किया है जिससे प्रस्तुत वस्तु और व्यापार दृष्टान्तों के सामने दबे से हैं। श्रोता या पाठक का ध्यान कई वस्तुओं की ओर जमने नहीं पाता। फिर भी जहाँ जहां स्थलवर्णन का अवसर आया है, वहां उन्होंने वस्तुओं और व्यापारों का प्रचुर उल्लेख करते हुए विस्तृत वर्णन किया है। केशवदास के समान नहीं किया है कि पचवटी क प्रसंग आया तौ बस "जाति फटी दुख की दुबरी" करके और अपना यह श्लेष चमत्कार दिखा कर चलते बने—

सोभत दंडक की रुचिबनी, भाँतिन भाँतिन सुन्दर घनी।
सेव बड़े नृप की जनु लसै, श्रीफल भूरिभाव जहँ लसै॥
बेर भयानक सी अति लगै, अर्क समूह जहाँ जगमगै।

अब कहिए इसमें "श्रीफल" "बेर" और "अर्क" पदों के श्लेष के सिवा और क्या है? चित्रण का यह तो वर्णन भी नहीं है। इसमें हृदय का तो कहीं पता ही नहीं है। क्या 'बेर' को देखकर भयानक प्रलयकाल की ओर ध्यान जाता है और आक को देख प्रलयकाल के अनेक सूर्यों की ओर। इससे तो साफ झलकता है कि पंचवटी के वन दृश्य से केशव के हृदय का कुछ भी सामंजस्य नहीं है। उस दृश्य से उनके हृदय में किसी प्रकार के भाव का उदय नहीं हुआ।

दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि बाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों ने वृक्षों आदि के उल्लेख में देश का पूरा ध्यान रक्खा है—जैसे हिमालय के वर्णन में भूर्ज, देवदारु आदि; दक्षिण के वर्णन में एला, लवंग, ताल, नारिकेल, पुङ्गीफल आदि का उल्लेख है। गोस्वामीजी ने भी देश का ध्यान रक्खा है। चित्रकूट के वर्णन में कहीं एला, लवंग, पुंगीफल का नाम वे नहीं लाए हैं। पर केशवदासजी मगध के पुराने जंगल के वर्णन में वृक्षों के जो जो नाम याद आये हैं, उन्हें अनुप्रास की बहार दिखाते हुए जोड़ते चले गये हैं—

तरुतालीस तमाल तालहिंताल मनोहर।
मंजुल बंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेल पर॥

एलाललित लवंग संग दुर्गा फल सोहै।
सारीसुक कुल कलित चित्त कोकिल। अलि मोहै॥

केशवदासजी ने इस बात का कुछ भी विचार न किया कि एला, लवंग और पुंगीफल अयोध्या और मिथिला के बीच के जंगलों में होते भी हैं या नहीं।

भिन्न भिन्न व्यापारों में तत्पर मनुष्य की मुद्रा का चित्रण कभी, रूप-प्रत्यक्षीकरण में बहुत प्रयोजनीय है। पर यह हम गोस्वामीजी को छोड़ और किसी में पाते ही नहीं। और कवियों ने केवल अनुभव के रूप में भ्रूभंग आदि का वर्णन किया है, पर लक्ष्यसाधने, किसी का मार्ग देखने आदि व्यापारों में जो स्वाभाविक मुद्रा मनुष्य की होती है उसके चित्रण की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। गोस्वामीजी ने ऐसा चित्रण किया है। देखिये, आखेट के समय मृग को लक्ष्य करके बाण खींचते हुए रामचन्द्र का कैसा चित्र उन्होंने सामने खड़ा किया है—

सुभग सरासन सायक जोरे
खेलतराम फिरत मृगया बन बसःरीसो मृदु-मूरति मन मोरे।
जटा मुकुट सिर सारस-नयननि भौंहें तकत सुभौंह सकोरे॥

मारीच के पीछे लक्ष्य साधते हुए राम की छबि देखिए—

जटामुकुट कर सर धनु संग मरीच।
चितबनि बर्सात कनखियनु अँखियन बीच॥

एक और चित्र देखिये। शबरी की झोपड़ी की ओर राम आने वाले हैं। वह उनके लिये मीठे मीठे फल इकट्ठे करके कभी भीतर

जाती है, कभी बाहर आकर भौं पर हाथ रक्खे हुए मार्ग की ओर ताकती है—

अनुकूल अँबक अँबज्यों निज डिंभ हित सब आनिकै।
सुन्दर सनेह सुधा सहस जनु सरस राखे सानिकै॥
छन भवन छन बाहर विलोकति पंथ भूपर पानिकै।

निशाना साधने में भौं सिकोड़ना और रास्ता देखने में माथे पर हाथ रखना कैसी स्वाभाविक मुद्रायें हैं।

दृश्यों को सामने रखने में गोस्वामी जी ने अत्यन्त परिमार्जित रुचि का परिचय दिया है। वे ऐसे दृश्य सामने नहीं लाये हैं जो भद्दे या कुरुचिपूर्ण कहे जा सकें। उदाहरण के लिये भोजन का दृश्य लीजिये। 'मानस' में दो प्रसंगों में इसके अवसर आये हैं—राम की बाललीला के प्रसंग में और विवाह के प्रसंग में दोनों अवसरों पर उन्होंने भोजन के दृश्य का विस्तार नहीं किया है। दशरथ भोजन कर रहे हैं इतने में—

धूसर धूरि भरे तनु आये। भूपति विहँसि गोद बैठाये॥
भोजन करत चपल चित इतउत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख, दधि ओदन लपटाइ॥

भोजन का यह उल्लेख बाल-क्रीड़ा और बालचपलता का उल्लेख करने के लिये है। पकवानों के नाम गिनाते हुए भोजन के वर्णन का विस्तार उन्होंने नहीं किया है। इसी प्रकार विवाह के अवसर पर भी भोजन का वर्णन नहीं है। किसी भद्दी रुचिवाले को यह बात खटकी और उसने उनके नाम पर रामकलेवा बना डाला।

अब सूर और जायसी को देखिये। वे लड्डू, पेड़ा, जलेबी, पूरी कचौरी, बड़ा, पकौड़ी, मिठाइयों और पकवानों के जितने नाम याद आये हैं या लोगों ने बताए हैं सब रखते चले गये हैं। जायसी तो कई पृष्ठों तक इसी तरह गिनाते गये हैं—

लुचुई, पूरि सोहारी पूरी। इकतौ ताती औसुठि कोंपरी।
भूंजि समोसा, घी महँ काढ़े। लौंग मिरिचतेहि भीतर ठाढ़े॥

इसी प्रकार चावलों और तरकारियों के नाम देख लीजिये। सूरदासजी ने यही किया है। 'नन्द बाबा' कृष्ण को लेकर खाने बैठे हैं। उनके सामने क्या क्या रक्खा है देखिए--

लुचुई, लपसी, संग जलेबी सोइ जेवहुँ जो लगै पियारी।
घेवर; मालपुवा, मोतिलाडू सुघर, सजूरी सरस सँवारी॥
दूध बरा, उत्तम दधि, बारी, दाल मसूरी की रुचि न्यारी॥
आछो दूध और धौरी को मैं ल्याई रोहिणि भर तनरी॥

इन नामों को सुनकर अधिक से अधिक यही हो सकता है कि श्रोताओं के मुँह में पानी आ जाय। भोजन का ऐसा दृश्य सामने रखना साहित्य के मर्मज्ञ आचार्यों ने भी काव्यशिष्टता के विरुद्ध समझा था, इसी से तो नाटक में इसका निषेध किया था--

दूराह्वानं, बधो, युद्ध, राज्य देशादि बिप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतंतथाः।

कुछ हिन्दी कवियों ने बहुत सी वस्तुओं की लम्बी सूची देने को ही वर्णन पटुता समझ लिया था। इसके द्वारा मनुष्य के भिन्न भिन्न व्यवसाय क्षेत्रों की अपनी जानकारी भी वे प्रकट करना चाहते

थे। घोड़ों का प्रसंग आया तो बस "ताजी अरबी अब लक, मुश्की" गिना चले। हथियारों का प्रसंग आया तो सैकड़ों की फिहरिस्त मौजूद है। महाराज रघुराजसिंह ने तो यह समझिये कि अपने समय के राजसी ठाठ और जलूस के समान गिनाने के लिये ही 'रामस्वयंवर' लिखा। इस प्रणाली का सबसे अधिक अनुसरण सूदन ने किया है। उनके 'सुजान चरित्र को तो हथियारों घोड़ों, कपड़ों सामानों की एक पुस्तकाकार नामावली समझिये।

गोस्वामी जी को यह हवा बिल्कुल न लगी। इस अनर्गल विधान से दूर रहकर उन्होंने अपने गौरव और गाम्भीर्य की पूर्ण रक्षा की।

वस्तुप्रत्यक्षीकरण के सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि वह काव्य का साध्य नहीं है। यदि वह साध्य या चरम लक्ष्य होता तो किसी कुरसी या गाड़ी का सूक्ष्म वर्णन भी काव्य कहला सकता। पर काव्य में तो उन्हीं वस्तुओं का वर्णन प्रयोजनीय होता है जो विभाग के अन्तर्गत होती हैं अथवा उनसे सम्बन्ध होता है। अतः "काव्य एक अनुकरण कला है" यूनान के इस पुराने वाक्य को बहुत दूर तक ठीक न समझना चाहिये। कवि और चित्र-कार का साध्य एक ही नहीं है। जो चित्रकार का साध्य है वह कवि का साधन है। पर इसमें सन्देह नहीं कि यह साधन सबसे आवश्यक और प्रधान है। इसके बिना काव्य का स्वरूप खड़ा ही नहीं हो सकता।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

बख्शी जी रायपुर (मध्यप्रदेश) के अन्तर्गत खैरापुर के निवासी हैं। आपका जन्म वि० संवत् १९५१ में हुआ। आपने द्विवेदी जी के बाद "सरस्वती" का बड़ी ही योग्यतापूर्वक सम्पादन किया। आप बड़े योग्य कवि, लेखक और समालोचक हैं।

'हिन्दी साहित्य विमर्श' और 'विश्वसाहित्य' आपके आलोचनात्मक ग्रंथ है। 'हिन्दी साहित्य विमर्श' में हिन्दी साहित्य के विविध धाराओं पर आपने एक विहङ्गम दृष्टि डाली गई है। 'हिन्दी काव्य में प्रेम' 'हिन्दी काव्य में सौंदर्य सृष्टि' आदि का क्रमिक इतिहास बतलाते हुए आलोचनात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला है। यूरोप में इस प्रकार की समालोचनाएँ डारविन के पश्चात आरम्भ हुई थीं। हिन्दी में बख्शी जीने इस ढङ्ग को अपनाया।

'विश्वसाहित्य' ने तो हिन्दी के समालोचनाक्षेत्र में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी। 'साहित्य का मूल-विकास' और सम्मिलन, विश्वभाषा, कला, नाटक, विज्ञान, और काव्य' आदि विषयों पर विद्वतापूर्ण निबन्ध लिख कर हिन्दी वालों को आपने विश्वसाहित्य का परिचय कराया। इसके अतिरिक्त आपके लेखों का संकलन 'पंच पात्र' नाम से निकला है।

हिन्दी काव्य में सौंदर्य-सृष्टि

कहा जाता है कि कविता का राज्य सौन्दर्य है। सभी कवि सौंदर्य के उपासक और रूप के प्रेमी कहे जाते हैं। हिन्दी साहित्य में भी कितने ही ऐसे कवि हो गये हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा से एक ऐसे सौंदर्यजगत की सृष्टि की है जो हिन्दी साहित्य की ही विशेषता है। हिन्दी के कवियों ने जो सौंदर्य वर्णन किया है उसको हम दो भागों में विभक्त करते हैं, पहला, मानवीय सौंदर्य वर्णन और दूसरा प्राकृतिक सौंदर्य वर्णन। पहले हम मानवीय सौंदर्य वर्णन की चर्चा करते हैं।

एक विद्वान् ने लिखा है कि सौन्दर्य के स्पष्टीकरण में सबसे पहले यह प्रश्न होता है कि कवियों का यह वर्णनीय विषय—सौन्दर्य है कहाँ? वह भीतर है या बाहर, वस्तुगत है या हृदय का भावमात्र है! देखने से तो यही जान पड़ता है कि वस्तु ही सुन्दर है। वह स्वयं सुन्दर है, हम उसके सौन्दर्य का उपयोग-मात्र करते हैं। चन्द्रमा की निर्मल कान्ति, उषा की मधुर लालिमा, सन्ध्या की सौम्य प्रभा, ये सभी हृदय पर अंकित हो जाती हैं और तभी हम उनकी छवि को ग्रहण कर सकते हैं। हम सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। हम केवल उसे हृदयङ्गम कर सकते हैं। असंख्य ताराओं से युक्त अनन्त आकाश लज्जाशीला युवती, इनका सौंदर्य क्या हमारे भाव पर निर्भर है? यह तो उन्हीं का धर्म है, उन्हीं का ऐश्वर्य है। वे स्वयं अपने महत्व से महान् हैं। हम केवल द्रष्टा हैं सौन्दर्य वस्तुगत है। वह बाहर है।

परन्तु यदि सौन्दर्य वस्तुगत है तो सुन्दर वस्तु के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मनुष्यों की भिन्न भिन्न राय क्यों होती है ? एक मनुष्य एक वस्तु को सुन्दर समझता है। और दूसरा मनुष्य उसी को कुत्सित कहता है, वह किसी दूसरी ही वस्तु को सुन्दर समझता है। भारतवासियों की दृष्टि में काले बाल और काली आँखें सुन्दर हैं और योरपवासी सुनहले बाल और नीली आँखों पर मुग्ध हैं। चीनवाले छोटे छोटे टेढ़े पैर और चपटी नाक में ही सौन्दर्य की पराकाष्ठा देखते हैं। नीग्रो सुन्दरी अपने जिस सौन्दर्य का गर्व करती है उसे देखकर दूसरे लोग डर जाते हैं। भिन्न भिन्न जाति और भिन्न-भिन्न मनुष्यों की भिन्न-भिन्न रुचि है। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि सौन्दर्य का कोई वस्तुगत सार्वभौमिक मापदण्ड नहीं है। मनुष्यों की सौन्दर्यवृत्ति उनकी शिक्षा और संस्कार पर निर्भर है। प्रत्येक जाति अपनी एक विशेष शिक्षा पद्धति और एक विशेष प्रकार की मानसिक अवस्था की सृष्टि करती है। भिन्न भिन्न व्यक्तियों की सौन्दर्य-रुचि प्रकृति और शिक्षा से निर्मित होती है।

हम बाहर जो वस्तु देखते हैं वह सौंदर्य नहीं है। वह है गढ़न, अथवा यह कहिये कि वह सौंदर्य का उपकरण-मात्र है। किन्तु यह उपकरण जिस किसी को सुन्दर अथवा असुन्दर प्रतीत होता है वह उसे अपने मन के भीतर से देखता है। भारतीय चित्रकार जिस रूप की सहायता से अपनी सौन्दर्यानुभूति को प्रकट करता है उसी को योरपीय चित्रकार नहीं स्वीकार करेगा। यही नहीं, किन्तु उसे वह रूप कुत्सित ही प्रतीत होगा। वह अपनी सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिये किसी दूसरे ही रूप का आश्रय लेगा।

सौन्दर्य के आधार के सम्बन्ध में मत-भेद हो सकता है, किन्तु स्वयं सौन्दर्य के सम्बन्ध में किसी में मतभेद नहीं होगा। जिस सौंदर्य को प्रकट करने के लिये मनुष्य रूप का आश्रय लेता है वह क्या है, यह समझाने के लिये हमें अपनी सौंदर्य-भावना का विश्लेषण करना चाहिये।

जब हम किसी को सुन्दर अथवा कुत्सित कहते हैं तब हम उसे तीन प्रकार से देखते हैं, पहले तो यह कि वह नेत्रों को प्रियकर है या नहीं, दूसरे यह कि वह हमारे हृदय को आनन्ददायक है या नहीं, तीसरे यह कि बुद्धि उसे अच्छा कहती है या नहीं; नेत्रों से हमें सिर्फ रेखा और रेखा विन्यास का ज्ञान होता है। नेत्र के स्नायु और उस पर पड़ने वाला रेखा का आघात, इन दोनों में एक प्रकार से मेल होता है। यह मेल जितना ही स्पष्ट और घनिष्ट होगा उतना ही वह रेखा विन्यास हमें अच्छा लगेगा, वस्तु की स्थिर रेखा नेत्रों को आच्छादित करेगी। उसकी गति हृदय को आकृष्ट करेगी। बुद्धि उसके गुण को ग्रहण करेगी। वर्षा में हम आकाश में घनपटल को देखकर मुग्ध होते हैं। हमारी इस मुग्धावस्था के तीन कारण हैं। पहला है उसका बाह्य आकार, रेखा विन्यास। इसी को कालिदास के मेघदूत में यक्ष ने सब से पहले देखा था—वप्रक्रीड़ा परिणत गजप्रेक्षणीयं ददर्श। बाद हम देखते हैं मेघ की निविड़ कालिमा। उसकी चञ्चल गति में हम अपने हृदय की आशा-निराशा और गम्भीर वेदना की प्रतिछाया देखते हैं। इसके बाद हम सोचते हैं कि वह पृथ्वी के हृदय को शीतल करेगा, कदम्ब को स्फुटकोरक करेगा, चातक की पिपासा को दूर

करेगा, मयूरी को नृत्य-विह्वल बना देगा, विरहिणी के चित्त को हर्षित करेगा। तब हम इसके गुण पर मुग्ध होते हैं। अब देखिये। हिन्दी के कवियों ने इस सौंदर्य बोध को किस प्रकार प्रकट किया है-- पहले शरीरज सौन्दर्य लीजिए। वही चक्षुओं से ग्राह्य है। श्याम के इसी सौंदर्य पर मुग्ध होकर एक गोपी कह रही है।

वारि डारौं शरद इन्दु मुख छवि गुविन्द पर,
दिनेश हूँ को वारि डारौं नखन छटान पर।
कोटि काम वारि डारौं अंग अंग श्याम लखि,
वारि डारौं अलि अलि कुंचित लटान पर॥
नैनन की कोरन पै कंज हूँ को वारि डारौं,
वारि डारौं हंस हूँ को चारु लटकान पर।
देख सखी आज ब्रजराज छवि कहा कहौं।
काम धनु वारि डारौं भ्रृकुटी भटान पर॥

वह रूप कौन सा था—

कुंडल विलोल कुल कानन कनक राजै,
केसरि तिलक भाल भृकुटी विशाल की।
कुन्दन किरीट तामैं मोर के पखान खोंसे,
झूमत चलत मन्द गति सों मराल की।
चितवन तिरछी तीर तीक्ष्ण अनङ्ग केसे,
विहँसत में आली जात लाली है गुलाल की।
कैसेहूँ बिसारे नाहिँ विसरत प्रताप नेक
मेरे मन बसी टेढ़ी मूर्रति गोपाल की॥

परन्तु जिस रूप को देख कर निम्नलिखित पद्य की नायिका विह्वल हो गई थी वह उसके हृद्गत भाव का प्रेरक था।

पीत पट कसी बंसी श्याम की सुरति लसी,
तौ लौं कुल फाँसन सिगास को सहति है।
आने नहीं नेक एक प्रीति की परी है टेक,
कटि कै अनेक कला लला को चहति है॥
कबधौं मिलैगो वह साँवरो कुँवर मोहि,
लाख लाख यहै अभिलाष को लहति है।
खिरकी के माहिं खरी हिरकी हरी को हरै।
घरी घरी फिरकी लौं थिरकी रहति है॥

यशोदा ने कृष्ण के बाल्यसुलभ और वीरोचित गुणों पर मुग्ध होकर कहा था—

कल न परति कहूँ उधो इन गैयन को,
कब धौं ललन धौरी धूमरी पुकारि हैं।
पूरि है श्रवण कब सुधा निज बैननि सों,
कब यह छबि हम नैनन निहारि हैं॥
बूड़बो चहत व्रज राधा दृग धारन ते,
कबधौं धराधर करज पर धारि हैं।
मारि हैं अघासुर बिदारि हैं बका को कब।
वेणुको बजाय कुञ्जबन में बिहारि हैं॥

इन तीनों भावों को एक कवि ने एक ही पद्य में बड़े अच्छे रंग से कह दिया है। उसमें नेत्र, हृदय और बुद्धि तीनों से ग्राह्य सौंदर्य का समावेश हुआ है। सुनिये—

उमड़ि उमड़ि दृग रोवत अधीर भये,
मुखद्युति पीरी परी विरह महा भरी।
हरीचन्द प्रेममाती मनहुँ गुलाबी छकी,
काम झर झाँवरी सी द्युति तनुकी करी॥
प्रेम कारीगर के अनेक रङ्ग देखो यह,
जोगिया सजाये बाल बिरिछ तरे खरी।
आँखिन में साँवरो हिये में बसै लाल वह;
बार बार मुख ते पुकारत हरी हरी॥

हम नेत्रों से सौन्दर्य को देखते हैं, हृदय से उसका अनुभव करते हैं और बुद्धि से उसको समझते हैं। नेत्रों से ग्राह्य सौन्दर्य से इन्द्रिय की तृप्ति होती है। हृद्गम्य सौन्दर्य से हृदयतुष्ट होता है और बुद्धि के द्वारा यथार्थ ज्ञान हो जाने पर सौन्दर्य का निर्मलतमरूप प्रकट हो जाता है। पहले सौन्दर्य से विकार होता है, दूसरे से प्रेम और तीसरे से भक्ति और तन्मयता होती है। अब इनके उदाहरण लीजिए।

शारीरिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कोई गोपी कह रही है—

गरे गुञ्जमाल धरे खरे ह्वै तमाल तरे
लाल कब फूलन की माल पहराय हैं।
ललित लता की सेज पल्लव मई सुनई
आपने करनि कब कुञ्ज में बिछाय हैं॥

जिसने रूप को हृदय में रक्खा था उसकी उक्ति सुनिये—

पिय प्यारे बिना यह माधुरी,
मूरति औरन को अब देखिये का।
सुख छाँड़ि के सङ्गम को तुम्हरे,
इन लच्छन को अब लेखिये का।
हरिचन्द जू हीरन को व्यवहार कै
कांचन को ले परेखिये का।
इन आँखिन में तुव रूप बस्यो
उन आँखिन सों अब देखिये का॥

परन्तु जिसने ज्ञान के द्वारा सौन्दर्य का निर्मलतम रूप देख लिया उसके लिये विहारी ने कहा है—

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़ै श्याम रङ्ग त्यों त्यों उज्जल होय।

हिन्दी साहित्य नख-शिख वर्णन के लिये प्रसिद्ध है। इस नख-शिख वर्णन की एक विशेषता यह है कि कवि की कल्पना एक संकुचित सीमा में बद्ध रही है। उस सीमा का उल्लङ्घन करने का साहस कभी किसी ने नहीं किया। यह सीमा शास्त्रनिर्दिष्ट थी—हिन्दू साहित्य-शास्त्रकारों ने रूप वर्णन के लिये प्रत्येक अङ्ग की एक आदर्श आकृति निर्दिष्ट कर दी थी। उसीका अनुसरण कवियों ने किया है। प्राचीन चित्रकला और मूर्ति निर्माण-कला में भी रूप का वही आदर्श स्वीकृत किया गया है। हिन्दी साहित्य में प्राचीन परम्परा की जो रक्षा की गई है उसका कारण है। हिन्दी साहित्य का उद्गम

और विकास जिस प्रदेश में हुआ है वह प्राचीन आर्य्य सभ्यता का केन्द्र था अतएव हिन्दू जाति की समस्त भावनाएँ हिन्दी साहित्य में व्यक्त हुई हैं। जाति की अस्तित्व रक्षा के लिये, उसके शारीरिक और मानसिक विकास के लिये, जिन आदर्शों का प्रचार करना श्रेयस्कर होता है, वे आदर्श हिन्दी साहित्य ने प्राचीन साहित्य से ही लिये। शरीर के आदर्श के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। हिन्दी भाषा की भूमि में जो जाति निवास करती है वह प्राचीन आर्य जाति की सन्तान है। इसमें सन्देह नहीं कि उसमें अन्य जातियों का सम्मिश्रण हुआ है। तो भी वर्णाश्रम की प्रथा से उसमें आर्य-जाति के संस्कार सुप्त नहीं हुए। यह जाति शौर्य से युक्त होने पर भी असहिष्णु नहीं है। अध्यवसायशील होकर भी वह क्षिप्र नहीं है। उसमें दृढ़ता है चञ्चलता नहीं है। उसकी आकृति से भी यही बात प्रकट होती है। जो जाति अपने को जितना ही विशुद्ध रखती है उसकी आकृति में रेखा की उतनी ही स्फुटता, दृढ़ता और अङ्गों की समानता देखी जाती है। वर्ण-भेद होने पर भी हिन्दी-भाषाभाषियों में आकृति-भेद नहीं है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों के कवियों के रूप-वर्णन में समता है।

यह नहीं कहा जा सकता है कि हिन्दू कवियों अथवा चित्रकारों की रूपसृष्टि में वैचित्र्य नहीं है। वैचित्र्य अवश्य है, परन्तु वैचित्र्य का कारण बाह्य आकृति नहीं, किन्तु अन्तः प्रकृति है। कवि जिस रूप की कल्पना करता है उसे वह अपनी अन्तरात्मा से पाता है। अन्तर्दृष्टि की सहायता से उसी सौन्दर्य को व्यक्त करना उसका मुख्य

उद्देश होता है। वाह्य आकृति कवि का उपकरण-मात्र है। कवि जिन भावों में डूबा रहता है वही भाव साकार होकर प्रत्यक्ष हो जाते हैं। वाह्य आकृति से अन्तःप्रकृति का सम्बन्ध अवश्य है, शरीर के ऊपर अन्तरात्मा की छाया अवश्य पड़ती है। जिसे हम लावण्य कहते हैं वह और कुछ नहीं, अन्तर्भावना की प्रतिच्छाया है। वर्गसन नामक एक प्रसिद्ध दार्शनिक ने इसी की पुष्टि की है। उसने लिखा है—

The soul imparts a portion of its wriged lightness to the body it animates; the immoteriality which thus passes into matter is what is called gracefulness.

आत्मा की कुछ चञ्चलता शरीर में भी आ जाती है। अन्तःकरण की स्फूर्ति शरीर में कुछ प्रकट अवश्य हो जाती है। उसी के कारण वाह्य प्रकृति में नवीनता बनी रहती है। वाह्य सौन्दर्य में स्थिरता रहती है। क्षण-क्षण में वह तभी नवीन होता है जब अन्तःकरण की स्फूर्ति उसमें प्रकट होती है। इसी से विहारी ने लिखा है—

लिखन बैठ जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

वाह्य रूप अङ्कित करने में चित्रकार को कठिनता न होती। परन्तु भावों को कारण रूप में जो चञ्चलता आ जाती है उसको अङ्कित करना अवश्य कठिन है। कवियों ने भिन्न भिन्न अङ्गों के लिये जो उपमाएँ कल्पित की हैं उनसे केवल रूप की स्थिरता प्रकट होती है। भावों की चंचलता को प्रकट करने के लिये उनको अपनी उपमाओं में भी अनेक कल्पनाएँ करनी पड़ी हैं।

कवियों ने मुख की उपमा चन्द्र से दी है, चन्द्रमा को देखकर रामचन्द्र जी को भी सीता जी के मुख का स्मरण हो आया। परन्तु सीता जी के मुख-सौन्दर्य को क्या चन्द्रमा पा सकता था!

जन्म सिन्धु पुनि बन्धु विष दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि चन्द बापुरो रंक॥
घटइ बढ़इ बिरहिन दुखदाई।
ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई।
कोक सोकप्रद पंकज द्रोही।
अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही।

रामचंद्र जी ने चंद्रमा में जो दोष देखे वे चंद्रमा के दोष नहीं हैं। यदि ये दोष उसमें न भी रहते तोभी सीता जी के मुख के साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती। क्योंकि सीता जी तो--

लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी।

सीता जी की इस मूर्ति में प्रेम लज्जा और संकोच का जो भाव प्रदर्शित हुआ है उसके लिये सचमुच कोई उपमा नहीं है।

केशवदास ने तो यहाँ तक कह दिया है कि हजार कोशिश करने पर भी चंद्रमा मुख की शोभा नहीं पा सकता—

ग्रहनि में कीन्हो गेह सुरनि दै देस्यों देह
शिवसों कियो है नेह जान्यों युग चारयो है।
तपिन में तप्यो तप जलधि में जप्यो जप
केशवदास बपु मास मास प्रति जारयो है।

उडुगण-ईश-द्विज ईश औषधीश भयो
यदपि जगत-ईश सुधासों सूधार्यो है।
सुनि नन्दनन्द प्यारी तेरे मुखचंन्द्र सम
चन्द पै न भयो कोटि छन्द करि हार्यो है।

केशान्त से लेकर भ्रू पर्यन्त ललाट है। यह कुछ खिंचा हुआ अर्ध चन्द्राकार होता है।

भाग को भौन सोहाग कोचोंतरो सुन्दरता को सिंहासन सोई।
सागर है रस को पुन प्रेम को लोचन पन्थिन को सुख होई॥
नूर कहे न सुनै बड़ बावरी चन्द ही दोष कछू न भलोई।
होत नहीं सार तेरे ललाट की तौ शशि चौथिकौ देखै न कोई॥

पुरुषों के भ्रूयुगल का आकार निम्बपत्र के समान होता है और स्त्रियों के धनुषाकार। हर्ष, भय, क्रोध आदि भिन्न भिन्न भावों के आवेश से भ्रूयुगल कभी उन्नमित कभी नमित, और कभी सङ्कुचित होते हैं।

कवियों ने टेढ़ीलता कामदेव के धनुष, कामदेव के खड्ग के म्यान और भौंरे के पखों से उसकी उपमा दी है।

केधों लागी पंकज के अंक पंख लीक कीधौं
केशव मयंक अंक-अंकित सुभाय को।
जन्म है सुहाग को कि मन्त्र अनुराग को
कि मन्त्रन को बीच अध ऊरध अभाव को?
आसन सिंगार को कि राम को सरासन है
सासन लिखो है प्रेम पूरन प्रभाव को।

राख रूख वेष विष विषम पियूख में
सुभामिनी की भौहैं कैधौं भौन हाय भाय को ॥

नेत्र मत्स्याकृति कहे गये हैं। नेत्र के भाव और भाषा का अन्त नहीं, उसी प्रकार उसकी उपमाओं का भी अन्त नहीं है। खञ्जन-नयन, हरिण-नयन, कमल-नयन आदि कितने ही प्रकार के नेत्रों के वर्णन कवियों ने किये हैं। स्त्रियों के नैनों में स्वभाव से चञ्चलता है। इसी से कदाचित् सफरी, खंजन और हरिण, इन तीन चंचल प्राणियों के नेत्रों से उनकी उपमा दी जाती है। पर इन नेत्रों के द्वारा भिन्न भिन्न भाव भी प्रकट होते हैं।

खंजन-नयन में कौतूहल-पूर्ण विलास का भाव विद्यमान रहता है, सफरी नयन में अस्थिर दृष्टिपात, हरिण-नयन में सरल माधुर्य, पद्म पलाश नयन में प्रशान्त दृक्पात आदि भाव नेत्रों की आकृति के साथ प्रकट होते हैं।

मत्स्याकृति नेत्रों के सम्बन्ध में सूरदास जी ने लिखा है।

उपमा नैनन एक रही।
कवि जन कहत कहत सब थाके रुचिकर नहीं कही ॥
नहि चकोर विधुमुख बिन जीवत भँवरहु नहीं लखात।
हरिमुख कमल कोशतें बिछुरे अनतै कत ठहरात ॥
ऊधो बधिक व्याध ह्वै आये मृगसम क्यों नपरात।
भागि जाहिं बन सघन स्याम में जहाँ न कोऊ घात ॥
खंजन मनरंजन होहिं ये कबहुँ नहीं अकुलात।
पंख पसारि न होहिं चपल गति हरि समीप उड़ि जात ॥

कमल न होहिं कौनविधि कहिए झूठे ही तनु आड़त।
सूरदास मीनता कछूइक जलभरि कबहुँ न छाँड़त।

एक कवि ने एक ही पद्य में इन समस्त उपमाओं का सन्निवेश कर दिया है—

मृग कैसे मीन कैसे खंज्जन प्रवीन कैसे
अंजन सहित सित असितजलद से।
चर से चकोर से कि चोखे खाड़े कोर से
कि मदन मरोर से कि माते राते मद से।
नवी कवि ऐना से कि औरे नैन वैना से
कि सियरे सिलौना से कि आछे मृग मद से।
पयसे पयोधिसे कि और सौंधे सोध से
कि कारे भौर कैसे अनियारे कोक नद से॥

जान पड़ता है कि कर्ण की गठन पर कलाकोविदों का ध्यान विशेष नहीं गया। कवियों ने कर्णफूल और कर्णभूषण की जितनी प्रशंसा की है, उतनी कर्ण की नहीं। प्राचीन चित्रों में कर्ण की शोभा सदैव अलङ्कारों से आच्छादित रही है। कवियों ने कर्ण की उपमा राग के रमणपात्र शोभा के पवित्र भवन, लाज के नेत्र, मन के मन्त्री आदि से दी है—

रागिन के आगर विराग के विभाग कर
मन्त्र के भंडार गूढ़ रूढ़ के रमन हैं।
ज्ञान के विवर कैधौं तनक तनक तन
कनक कचोरी हरि रस अचवन हैं॥

श्रुतिन के रूप किधौं मन के सुमित्र रूप
किधौं केशोदास रूप भूप के भवन हैं।
लाज के नयन किधौं नयन सचिव किधौं
नयन कटाक्ष शर लक्ष्य के श्रवन हैं॥

नाक की उपमा तिल पुष्प से दी जाती है, तिल पुष्पाकृति नासा। स्त्रियों के चित्रों में तिलफूल की ही नाक की आकृति दिखलाई गई है। शक्तिमान् और महात्मा के चित्रों में नाक की आकृति शुक चञ्चु के सदृश है। हिन्दी में इस भिन्नता पर ध्यान नहीं दिया गया है। एक कवि ने नाक के विषय में लिखा है—

वन वासी किये शुक पीठि निवासी
तुनीर जो वीर विलासिका है।
तिलसून प्रसून हू खेत गिरे
गुहा सेवक सिद्ध निकासिका है।

हिन्दी में नासिका पर कदाचित् केशवदास की निम्न-लिखित उक्ति से अधिक अच्छी उक्ति किसी ने नहीं कही है, जिसमें नासिका का सौन्दर्य वर्णित है।

केशव सुगन्ध स्वास सिद्धन की गुफा कैधौं
परम प्रसिद्ध शुभ शोभन सुवासिका।
कैधौं मनमथ मनमीन की सुवेनी कैधौं
कुन्दन की सींव लोल लोचन विलासिका॥
मुकुता मणिन की है मुकुल पुरी सी कैधौं
कैधौं सुर सेवत हैं काशी की प्रकाशिका।

त्रिभुवन रूप तको तुङ्ग तोयनिधि ताके
तोय की तरङ्ग कैं तर्रान तेरी नासिका ॥

अधर विम्बफल के समान कहा जाता है। इनमें आकृति का सादृश्य उतना नहीं जितना प्रकृति का। अधर की प्रकृति भी सरस और रक्तवर्ण है। कोमलता के लिये पल्लव की उपमा अधिक अच्छी है और वर्ण के लिये प्रवाल। वन्धुजीव (दुपहरिया) अधर और ओठ दोनों की आकृति से समानता रखता है।

वन्धुजीव को दुखद है अरुन अधर तुव बाल।
दास देत यह क्यों डरैं पर जीवन दुख जाल ॥

मुख के दूसरे अंशों की अपेक्षा चिबुक जड़ है। भ्रू, नासिका, नेत्र, अधर, आदि अङ्गों पर भावों का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखलाई पड़ता है। भाव के आवेग से वे सजीव से हो जाते हैं। परन्तु चिबुक पर ऐसा कोई प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता। इसी से नासिका, नेत्र, अधर आदि की उपमाएँ पुष्प, पत्र, मत्स्य लता, आदि सजीव वस्तुओं से दी जाती है। परन्तु चिबुक के लिये ऐसी कोई उपमा नहीं दी गई है। तो भी एक कवि ने चिबुक के सुन्दरता की बड़ी अच्छी कल्पना की है।

कनक वरण कोकनद के वरण और
झलकति झाँई तामें बसन रदन की।
कीन्हीं चतुरानन चतुर ऐसी रचिपचि
अलवसी चौकी चारु आसन मदन की।

अंगुल के बाम उपमान की अवधि सब
सुमिल सुबान मानो श्रीय के सदन की।
सुन्दर सुढार है चिवुक नव नायिका की
कीधौं बलभद्र बादसाही है बदन की।

त्रिवली--चिन्हित शङ्ख के ऊर्ध्व भाग से कण्ठ की उपमा दी जाती है। इसके सिवा जब कण्ठ शब्द का स्थान है तब शङ्ख से उसकी समानता और भी बढ़ जाती है।

सब सुर तीन ग्राम रागन को धाम धन्य
मूर्छना सुताने श्रुति ग्रह मति पैनी को।
कैधौं चंद्र मंडल को परम अधार सुद्ध
उज्ज्वल अनूप स्वच्छ स्वच्छ पिक बैनी को॥
भनै रघुनाथ सील सोभा को निवास यहाँ
प्रीतम की प्रीति की प्रतीति कर दैनी को।
कम्बु से सुढ़ार रम्य चारु है कपोलहू तें
रम्भा रति कंठतें सुकंठ मृगनैनी को॥

दृढ़ता प्रकट करने के लिये रुद्ध कपाट से पुरुष के वक्षस्थल की उपमा दी जाती है। कालिदास ने कपाट-वक्षस्थल ही कहा है। कालिदास ने कन्धे की वृषस्कन्ध से तुलना की है। परन्तु कन्धे का अधिक सादृश्य कटि-कर से है। प्रकोष्ठ बाल कदली-काण्ड के तुल्य दिखलाया जाता है और अंगुली शिम्बीफल के तुल्य। स्त्रियाँ करभोरू कही जाती हैं।

कोमल कमल मुखी तेरे ये जुगुल जानु
मेरे बलवीर जू के बलहिं हरत हैं।
सौरभ सुभाय सुभ रम्भा के सुखमा अरु
केशव करमहुँ की शोभा निदरत हैं।
कोटि रतिराज सिरताज ब्रजराज की सों
देखि देखि गजराज लाजनि मरत हैं।
मोचि मोचि यह रुचि सकल सकोचि सोच
सुधि आये सुंडनि की कुंडरी करत हैं॥

कर और पद के लिये पल्लव और कमल की उपमा दी गई है।

कंचन के पल्लव में छोटी बड़ी लीक मानो
लिख्यौ है उचार मन्त्र विधि मोद सों भयो।
सुधा की श्रवन मणि माणिक लसत सो है
आँगुरी किरन ज्यों प्रभाकर उदै भयो॥
मेंहदी रचित नख कैधौं नैन पंचबाण
खरसान धरे सोने पानी तिनको दयो।
अंचर की ओर ते अचानक हीं दीठी पर्यो
तेरो हाथ देखे मन मेरो हाथ ते गयो॥

हिन्दी साहित्य में अङ्गों के जो आदर्श स्वीकृत किये गये हैं उनका वर्णन हम कर चुके। भिन्न भिन्न अङ्गों के लिये जो उपमाएँ दी जाती हैं वे काल्पनिक नहीं हैं। उपमेदों और उपमानों में विलक्षण सादृश्य है। इन उपमाओं का आधार अनुभूति है। परन्तु हिन्दी साहित्य में कवियों ने कल्पना का अत्यधिक आश्रय लिया

है। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने एक ऐसे सौन्दर्य की सृष्टि की जो केवल कल्पनागम्य है। कटि की कृशता दिख-लाते दिखलाते उन्होंने कटि का लोप ही कर दिया। प्रायः सभी अङ्गों के वर्णन में यही अस्वाभाविकता है। इस अस्वाभावि-कता का कारण यह है कि कवियों की नायिकाएँ हिन्दू समाज की गृह देवियाँ नहीं थीं किन्तु रसिकों के मनोविनोद के लिये कल्पित प्रतिमाएँ थीं। जब जाति में अकर्मण्यता आ जाती है तभी ऐसी कल्पित प्रतिमाओं से वह अपना मन बहलाती है। हिन्दी साहित्य में स्त्री-सौन्दर्य का निर्मलतम रूप तुलसीदास जी ने दिखलाया है। हमें उसी सौन्दर्य का गर्व है।

बाह्य सौन्दर्य में हिन्दी कवियों का ऋतु वर्णन और नख-शिख वर्णन यही दो विषय मुख्य हैं। प्रकृति के साथ हम लोगों की कुछ ऐसी आत्मीयता है कि जब उसमें परिवर्तन होता है तब हमारे हृदय के भावों में भी परिवर्तन हो जाता है। वर्षा काल में मेघों का आगमन होते ही हम लोगों के हृदय में एक अपरिचित अनिर्वचनीय वेदना होने लगती है। शरद् काल में कमलों के विकास के साथ हम लोगों का भी हृदय-सरोज विकसित होने लगता है। वसन्त के समागम से जब वृक्षों में नवपल्लव का उद्गम होता है, वन में एक महोत्सव की मानों सूचना हो जाती है। तब कोयल की मधुर ध्वनि के साथ ही हमारे हृदय में भी एक अपूर्व माधुरी फैल जाती है, और कोमल भावों का उद्रेक होने लगता है। जो श्रेष्ठ कवि हैं वे प्रकृति के सौन्दर्य के साथ मनुष्य के हृदय की जो आत्मीयता है उसी को प्रकट करते हैं।

हिंदी के सन्त कवियों ने, जिन्हें सांसारिक जीवन से विरक्ति हो गई थी, प्रकृति के ऋतु परिवर्तन में भी संसार की निस्सारता का ही दृश्य देखा।

गगन घटा घहरानी साधो—गगन घटा घहरानी।
पूरब दिसि से उठी बदरिया रिमझिम बरसत पानी।
आपन आपन मेड़ संभारो बह्यो जात यह पानी।
मनके बैल सुरत हरवाहा जोत खेत निरवानी।

तुलसीदास जी ने भी वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णन के द्वारा कलि-युग के लोगों को शिक्षा ही दी है। परन्तु जब हिन्दी में मानवीय भावों की प्रतिष्ठा होने लगी तब ऋतु वर्णन में कवियों ने हृदय के उल्लास और व्यथा को प्रधानता दी—

दूरि यदुराई सेनापति सुखदाई देखो
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम पतियाँ।
धरि जलधर की सुनत धुनि घर की
औदर की सुहागिनि की छोह भरी छतियाँ।
आई सुधि बरकी हिये में आन खरकी
सुमिरि प्राणप्यारी यह प्रीतम की बतियाँ।
बीति औधिआवनकी लाल मन भावनकी
डग गई बावन की सावन की रतियाँ।

बसन्त के उल्लास को पद्माकर ने एक पद्य में खूब अच्छी तरह व्यक्त किया है।

कूलन में केलि में कछारन में कुञ्जन में
क्यारिन में कलित कलीन किलकन्त हैं।
कहैं पद्माकर परागहू में पौनहू में
पातिन में पीकन पलासन पगंत हैं।
द्वार में दिशान में दुनी में देश देसन में
देखौ दीप दीपन में दीपित दिगन्त हैं।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में
बनन में बागन में बगर्‌यो बसन्त हैं।

हिन्दी के सभी कवियों ने इसी प्रकार ऋतु वर्णन किया है। किसी में कल्पना की सरलता अधिक है तो किसी में भाव की। पर वर्णन में विशेष वैचित्र्य नहीं है।



पं० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'

'रसाल' जी का जन्म वि० संवत् १९५५ में हुआ। आपने संस्कृत में एम० ए० पास किया और कई वर्षों तक साहित्य सेवा करते रहे। चार वर्ष पूर्व आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से 'अलंकार शास्त्र' पर डाक्टरेट प्राप्त किया। आजकल आप हिन्दी विभाग के अध्यापक हैं।

आपके बनाये हुए निम्न-लिखित ग्रंथ हैं—

(१) हिन्दी साहित्य का इतिहास
(२) अलंकार पीयूष (३) अलंकार कौमुदी
(४) रचनाविकास (५) नाट्य निर्णय
(६) आलोचनादर्श (७) साहित्य सागर (कोष)

हिन्दी साहित्य का इतिहास और आलोचनादर्श आपके आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। आप संस्कृत साहित्य के भी विद्वान् हैं। आप प्रत्येक कवि को उन प्राचीन नियमों की कसौटी पर तौलते हैं जो संस्कृत के साहित्यशास्त्र में लिपि बद्ध हैं। व्रजभाषा साहित्य के आप प्रकाण्ड विद्वान हैं।

समालोचना क्षेत्र में आपका स्थान सैद्धान्तिक आलोचकों के साथ है। आपका मत है कि प्रत्येक समालोचक को सब से पहले अध्ययन करना चाहिए तब इस दुस्तर कार्य में प्रवृत्त होना चाहिये। आलोचनादर्श में इस विषय का आपने सांगोपाङ्ग विवेचन किया है। आपकी समीक्षाओं से प्रकट होता है कि सत्समालोचकों के लिये कितनी गंभीरता और विद्वता की आवश्यकता है।



आलोचना के उद्देश्य-लाभ

समालोचना का मूल या मुख्य उद्देश्य, यदि सूक्ष्म-रूप में प्रगट किया जाय, वास्तव में सत्य, लोक-माँगल्य (जिसके अन्दर देश-समाज का हित, ज्ञान-वृद्धि, सत्पथ प्रदर्शन एवं अध्ययन शिक्षणादि भी आ जाते हैं) और सौन्दर्यानन्द की खोज करना है। इसके साथ ही समालोचना का लक्ष्य यह भी है कि जिन दोषों से किसी रचना में अरुचिकर एवं अनीप्सित कलुषितता आ जाती है उनसे रचयिता तथा अन्य जनों को सावधान करा दे जिससे वह लेखक या वैसा ही कोई अन्य लेखक उन दोषों की पुनरुक्ति से अपनी रचना को सदोष और अरोचक न करे।

किसी ग्रंथ के सम्बन्ध में समालोचक उपयुक्त अवलोकन के पश्चात् जो अपना निश्चित निर्णय या मत प्रगट करता है उससे जनता को बड़ा लाभ होता है। पाठकों को यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक ग्रंथ कितना अच्छा और पठनीय है, तथा कहाँ तक वह ग्राह्य तथा त्याज्य है। साथ ही लेखक को अपने उत्तरदायित्व के परिपालन की सफलता एवं असफलता का भी ज्ञान हो जाता है जिससे वह अपने मार्ग में उचितोपयोगी सुधार कर सकता है।

इसके साथ ही समालोचना से किसी ग्रंथ के सौन्दर्य पर ऐसा प्रकाश पड़ जाता है कि वह दूसरों के लिये नितान्त सुबोध, सुगम और सरल साध्य हो जाता है।

कहना चाहिये कि किसी लेखक या कवि की रचना को यदि किसी के द्वारा वास्तव में महत्ता एवं स्थायी सत्ता प्राप्त होती है तो वह समालोचक ही है, और उसकी सत्समालोचना ही वह विधि है जिसके द्वारा आलोच्य रचना को गौरव प्राप्त होता है, उसका स्थान साहित्य-समाज में स्थिर या निश्चित हो जाता है।

सुयोग्य समालोचक की सत्समालोचना से आलोच्य रचना की वे जटिल एव दुर्बोध ग्रंथियाँ भी सुलझ कर सुबोध एवं स्पष्ट हो जाती हैं जिनका सुलझाना या समझाना साधारण व्यक्ति के लिये कठिन होता है। सत्समालोचना इस प्रकार किसी आलोच्य रचना को चारुता से ऐसा चमका देती या सकती है जैसा उसका रचयिता उसे नहीं चमका सका या सकता है। लेखक या कवि की प्रतिभा को सुंदर प्रभा से प्रकाशित करना वास्तव में उसके सुयोग्य समालोचक का ही काम है। समालोचक ऐसा करके न केवल लेखक और उसकी रचना को गौरवान्वित ही करता है वरन् उनको लोक प्रसिद्ध, परिचित और व्यापक भी बनाता है। क्योंकि उसकी सत्समालोचना से आकर्षित होकर लोग उस रचना को अपनाते और पढ़ने लगते हैं, जिससे उसका विस्तृत प्रचार हो जाता है और उसे समाज में समादर पूर्ण स्थान प्राप्त हो जाता है।

यहीं यह भी कह देना अनुपयुक्त न होगा कि जिस प्रकार सुयोग्य एवं सहृदय समालोचक किसी लेखक या कवि तथा उसकी रचना को अपनी सत्समालोचना से गौरवान्वित कर सकता है, उसी प्रकार एक अयोग्य एवं अरसिक आलोचक अपनी दुरालोचना से उसे विगर्हित

एवं तिरस्कृत भी कर सकता है। इस दृष्टि से समालोचक को एक प्रकार का विरंचि भी कहा जा सकता है। कोई रचना कितनी भी निर्दोष तथा सुन्दर क्यों न हो, एक दुरालोचक के द्वारा वह नष्ट की जा सकती है, ठीक इसी प्रकार एक साधारण रचना भी सुयोग्य समालोचक के द्वारा बहुत कुछ उत्तम और चमत्कृत रूप में प्रकाशित की जा सकती है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार कवि या लेखक श्रेष्ठ और निकृष्ट होते हैं उसी प्रकार समालोचक भी। श्रेष्ठ समालोचकों का स्थान श्रेष्ठ कवि या लेखक की ही भाँति साहित्य-समाज में बहुत ऊँचा माना जाता है और निकृष्ट का बहुत निम्न श्रेणी में। ध्यान रखना चाहिये कि यदि आलोचक किसी कारण वश किसी सुरचना को जो किसी लेखक या कवि की श्रम-मूर्ति एवं आत्मा ही है, जान बूझ कर नष्ट करता है तो वह वास्तव में हत्या करता है, और हत्या करता है न केवल उस कवि या लेखक तथा उस रचना की वरन् अपनी भी, क्योंकि उसका हृदय वास्तव में उस रचना को उस रूप में प्रकाशित करने की आज्ञा नहीं देता और आलोचक की सच्ची आलोचना को उसके अन्तःकरण से नहीं निकलने देता। उसकी उस दुरालोचना में उसका हृदय-प्रतिबिम्ब न रह कर उसकी कुप्रवृत्ति की ही छाया रहती है।

किसी सुन्दर रचना को सतसमालोचना उसके रचयिता के उस रचनोद्देश्य की पूर्ति करती है, जिसे यश लाभ कहा गया है। और

जो सत्काव्य का एक प्रमुख उद्देश्य है।* इस प्रकार सत्समालोचना किसी सफल कवि या लेखक के लिये उसकी रचना के उपलक्ष में ऐसा यशस्कर पुरस्कार है, जो उसे फिर अधिक सुन्दर रचना करने में प्रोत्साहित करता है। जिस प्रकार कवि या लेखक के लिये सत्समालोचना पुरस्कार है उसी प्रकार समालोचक के लिये भी वह उसका पांडित्य प्रकाशक एवं कीर्ति कारक स्वाध्ययन-प्रदर्शन है।

समालोचना से न केवल कवि या लेखक तथा उसकी रचना की ही मार्मिक प्रतिभा प्रगट होती है वरन् समालोचक की भी।

अतः कह सकते हैं और कहा भी गया है कि समालोचना से साहित्य की समृद्धि-वृद्धि होती है। सुन्दर सत्समालोचना से प्रोत्साहित होकर लेखकों एवं कवियों तथा उनकी रचनाओं में वृद्धि होती है। साथ ही सत्समालोचना से जो स्वयमेव साहित्य का एक मुख्य अंग है, गद्य में तर्कात्मक विवेचन विचार की वृद्धि होती है। अस्तु इससे साहित्य तथा उसके रसास्वादन दोनों को सहायता मिलती है।

समालोचक साहित्य-कानन में प्रगट होने वाले काव्य-कुसुमों के चुनने वाले चतुर माली से हैं, जो अच्छे अच्छे फूलों-फलों को चुन कर बुरे फूलों-फलों से अलग कर देते, और उनके गुणों-दोषों से सबको परिचित कर देते हैं, जिससे अन्य जन उन्हीं चुने हुये सुन्दर फूलों-फलों को ग्रहण कर रसानन्द प्राप्त करते हैं। साथ ही बुरे फूलों-फलों का त्याग कर सकते हैं।

---

*'काव्यं' यशसे .... काव्य प्र०

अस्तु कहना चाहिए कि सत्समालोचना एवं सत्समालोचक जनता को सुपाठ्य पुस्तकों के संचयन-कार्य में पथ-प्रदर्शक एवं नेता का कार्य करते हैं। और साधारण मनुष्यों को सुपाठ्य पुस्तकों के पठन-पाठन की ओर समाकृष्ट एवं लगाकर उन्हें समुन्नति की ओर ले जाते हैं। अस्तु, इस प्रकार वे साहित्य-हित करते हुये देश-समाज या राष्ट्र का भी हित करते हैं। निंदनीय रचनाओं को विगर्हित या तिरस्कृत करते हुए वे त्याज्य बनाते हैं और साहित्यसमाज से उन्हें बहिष्कृत करा देते है। इस प्रकार सत्समालोचक अपनी सत्समालोचना के द्वारा साहित्य एवं समाज का सुधार, संशोधन एवं संस्कार करते हुये उन्हें शुद्ध, परिमार्जित एवं परिष्कृत करते हैं, अस्तु, समालोचकों और उनकी सत्समालोचनाओं से देश समाज एवं साहित्य को बहुत लाभ होता है।

समालोचक अपनी सत्समालोचनाओं के द्वारा न केवल साहित्य की ही समृद्धि-वृद्धि करता है, वरन् भाषा का भी बहुत कुछ परिमार्जन एव परिशोधन करता हुआ संस्कार करता है। भाषा सम्बन्धी दोषों की ओर वह आंगुल्यानिर्देश करता हुआ जनता को उनसे सचेत करता है और शुद्ध तथा सुन्दर भाषा के प्रयोग की ओर ले चलता है जिससे भाषा का परिष्कार हो जाता है और उसके दोष दूर हो जावे हैं। इसी प्रकार वह सुन्दर तथा प्रभावपूर्ण प्रयोगों (मुहावरों, Idioms) का भी प्रचार प्रसार करता हुआ भाषा की शैलियों (भाव-प्रकाशन-रीतियों या styles) पर भी प्रकाश डालता हुआ उन्हें प्रचलित करने में सहायक होता है। अतः कहना चाहिये कि समालोचक और

समालोचना से भाषा की भी श्रीवृद्धि होती है। जिस प्रकार सत्समालोचना से समाज, साहित्य भाषादि को लाभ होता है, उसी प्रकार दुरालोचना से इन्हें हानि भी होती है। जिस प्रकार रचनाओं से साहित्य-सदन का निर्माण होता है उसी प्रकार आलोचनाओं से भी एक प्रकार के साहित्य की उत्पत्ति होती है। यह साहित्य वह प्रकाश फैलाने वाला सूर्य है जिसकी प्रभा के बिना साहित्य-सदन भले प्रकार से अपने सौंदर्य तथा सुखद रूप को प्रकट ही नहीं कर सकता। साहित्य की सुन्दरता, सजावट, सुखद सामग्री, या रत्नराशि-रचना इसी के प्रकाश में निखरती-बिखरती है।

आलोचना किसी रचना की विवेचना या व्याख्या सी करके उसकी समस्त रहस्यमयी गूढ़ ग्रंथियों या मर्म-स्थलों को खोल कर स्पष्ट और सुबोध कर देती है। साथ ही हमें किस प्रकार किसी साहित्यिक रचना और उसके रचयिता को देखना, समझना उसके विषय में विचार करना और इसी प्रकार दूसरों को भी उन्हें दिखाना समझाना, और उन पर विचार कराना चाहिये, यह भी आलोचना से ही प्रकट होता है। अस्तु, आलोचना हमें साहित्याध्ययन में भी सहायता देती है।

अध्ययन या पठन में हमारा प्रथम उद्देश्य किसी रचना के द्वारा उसके रचयिता के सम्बन्ध (उसके विचारादि के विषय) में यथोचित या यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करना होता है। हम उस रचना के द्वारा उसके लेखक से अपना आन्तरिक (मानसिक) सम्बन्ध स्थापित

करना और उसके मन हृदय आदि से पूर्णतया परिचित होना चाहते हैं साथ ही उसके मन, हृदय, आदि से अपने मन-हृदय आदि की तुलना करते हुये सादृश्या-सादृश्य भी देखना चाहते हैं। हम उसकी रचना में प्रतिबिम्बित होने वाली उसकी अन्तरात्मा या रचना में छाया-रूप से प्रदर्शित होने वाले उसके अर्न्तजगत को देखना, समझना और उनका अनुभव स्वयमेव करना चाहते हैं और यह सब अपनी ही ओर से और अपने ही लिये करना चाहते हैं। इस विचार से देखने पर किसी रचना की आलोचना का पढ़ना मानों समय का दुरुपयोग करना मात्र है, क्योंकि आलोचना के द्वारा हम आलोच्य रचना और उसके रचयिता को सीधे सीधे और यथार्थता के साथ अपने अनुसार नहीं जान और समझ सकते।

आलोचना का पढ़ना मानों आलोच्य रचना और उसके रचयिता के सम्बन्ध में आलोचक के विचारों का ही जानना मात्र है। वह जैसा अपनी आलोच्य रचना और उसके रचयिता को समझता, सोचता और उसी आधार पर जैसी अपनी धारणा बना कर निर्णय के रूप में अपना मत प्रकट करता है हम वैसा ही उसकी आलोचना से समझ, सोच और विचार सकते हैं। यह सर्वथा सम्भव है और सत्य भी है कि बिना उस आलोचना को पढ़े हुए हम उस आलोचित रचना और उसके रचयिता को अपने अनुसार स्वतन्त्ररूप में सर्वथा दूसरे ही प्रकार समझ और विचार सकते हैं, और जब हम स्वतंत्रता के साथ किसी रचना को लेकर स्वयंमेव देखते हैं तब

हम उसे अपने ही अनुसार देखते हुए उसके रचयिता से परिचय प्राप्त करके उसकी विचार-धारादि को समझते और विचारते हैं। ऐसी दशा में हम स्पष्टतया स्वतंत्रता के साथ उस रचना और उसके रचयिता के सम्बन्ध में अपने (प्रत्यक्षरूप से किये गये अनुभव के आधार पर कुछ कह सकते हैं) आलोचना पढ़ कर हम आलोचक के ही विचारों को जान और प्रकट कर सकते हैं, क्योंकि हमने मूल रूप से आलोच्य रचना का स्वाध्याय नहीं किया। प्रायः यह देखा जाता है कि हम किसी रचना का स्वाध्याय करके जब उसकी आलोचना देखते हैं तब हम आलोचक के बहुत से विचारों के साथ न्यूनाधिक रूप में कभी तो सहमत होते और कभी नहीं भी होते, और हम स्वतः उसी रचना की दूसरे ही रूप में आलोचना करते हैं। यह सर्वथा सम्भव है कि आलोचक ने अपनी आलोच्य रचना और रचयिता को ठीक-ठीक न समझा हो अथवा बिल्कुल ही न समझा हो या जैसा वास्तव में उसे समझना चाहिये (जैसा समझाने का प्रयत्न रचयिता अपनी रचना में करता है) वैसा न समझकर किसी दूसरे ही रूप में समझा हो, इन दशाओं में आलोचना का पढ़ना हमारे लिये भ्रमात्मक और हानिकर ही होगा। इसलिये किसी आलोचना के पढ़ने से पूर्व यह अवश्यमेव देखलेना चाहिये कि उसका लेखक सत्समालोचक है या नहीं, वास्तव में वह समालोचना करने के लिये योग्य है या नहीं। सुयोग्य सत्समालोचकों की ही आलोचना अवलोकनीय मानने के योग्य होती है। प्रायः साधारण ज्ञान रखने वाले पाठक आलोचना के प्रभाव से ऐसे प्रभावित हो जाते हैं कि वे मूल

रचना के यथार्थतः समझने में भी अशक्त से हो जाते हैं। वे उसे उसी दृष्टि उसी रूप से देखते तथा समझते हैं जिस दृष्टि या रूप से आलोचक ने, जिसकी आलोचना उन्होंने पढ़ी है, उसे देखा तथा समझा है। चाहे वह ठीक हो या न हो।

उद्धव शतक में काव्य-कौशल

यद्यपि यह छोटा-सा ही काव्य है, तथापि यह काव्य-कौशल इतनी प्रचुर मात्रा में है कि इसका यह लघु आकार इसके पांडित्यपूर्ण काव्य-कौशल के कारण और भी स्तुत्य हो जाता है। इतने छोटे से काव्य में इतने कौशल का होना कवि की पांडित्यपूर्ण प्रतिभा का परिचायक है।

यह स्पष्ट ही है कि इस काव्य में विप्रलम्भ शृंगार (करुणा-भक्ति-प्रेम) तथा शान्तरस का प्राधान्य है, भक्ति और प्रेम की, जिन्हें शृङ्गार के ही अङ्ग मानते हैं, महत्ता और सत्ता स्थापित की गई है।

कृष्ण और गोपिकाएँ आलम्बन के रूप में और गोकुल, जो प्रेम-लीलाओं का मुख्य स्थान है और जहाँ की वायु तथा भूमि आदि प्राकृतिक पदार्थों पर भी कृष्णानुराग का रङ्ग चढ़ा हुआ है, और उद्धव के द्वारा लाई गई प्रेम-पत्रिका उद्दीपन के रूप में लिये जा सकते हैं। प्रेम और भक्ति से परिप्लावित कृष्ण, गोपियों और आगे चलकर भक्ति और प्रेम रस से सिंचित उद्धव में पुलकावली, अश्रु-प्रवाह, उच्छ्वास, कलावरोध, प्रस्वेद, वैवर्ण्य, कम्प, शैथिल्य मोह-प्रमोद आदि अनेक अनेक अनुभाव यथोचित रूप से यथास्थान प्रदर्शित किए गए हैं। पूर्वस्मृति की धारा तो कहीं कहीं पर ओझल सी होती हुई और कहीं कहीं पर पूर्ण रूप से प्रकट होकर प्रवाहित होती हुई ज्ञात होती है।

कहीं-कहीं तो अनेक अनुभवों का सुष्ठु सुगुंम्फन बड़ी ही चातुरी और रुचिरता से किया गया है। (देखो छन्द नं० १८, २९, १०२, १०३, १०६, १०८ इत्यादि।)

दीन दसा देखि व्रज-बालनि की ऊधव कौ,
गरिगौ गुमान ज्ञान-गौरव गुठाने से।
कहै 'रतनाकर' न आए मुख बैन नैन,
नीर भरि लाए, भए सकुचि सिहाने से।
सूखे से स्रमे से, सकबके से, सके से थके,
भूले से, भ्रमे से, भभरे से, भकुवाने से।
हौले से, हले से, हूल हूले से, हिये में हाय,
हारे से, हरे से, रहे हेरत, हिराने से॥

यह एक स्वाभाविक बात है कि जिस समय कोई त्यौहार आता है उस समय सबको विशेषतया स्त्रियों को, अपने-अपने प्रियजनों का प्रेम के कारण बार-बार ध्यान या स्मरण आता है। प्रेमिकाएँ तो अपने प्रेमियों के बिना त्यौहार मनाती ही नहीं और यदि मनाती भी हैं तो रो-रोकर दुख के साथ ही। इसीका कैसा सुन्दर वर्णन छन्द नम्बर २५, २६ में किया गया है—

आवत दिवारी बिलखाइ ब्रजवारी कहैं,
अबकैं हमारे गावँ गोधन पुजैहै को।
कहै 'रतनाकर' विविध पकवान चाहि,
चाह सौं सराहि चख चंचल चलैहै को॥

निपट निहोरि, जोरि हाथ निज साथ ऊधौ !
दमकति दिव्य दीप मालिका दिखैहै को।
कूबरी के कूबरतैं उबरि न पावै कान्ह,
इन्द्र कोप-लोपक गुबर्धन उटैहै को॥

शृङ्गारात्मक मुक्तक काव्य में षटऋतु वर्णन सम्बन्धी-रचना-शैली का प्रचार पहले बहुत रहा है और बहुत से प्राचीन कवियों ने लिखा भी है। श्री रत्नाकर जी ने भी इस काव्य में षटऋतु के वर्णन वाले छः छन्द दिये हैं। वास्तव में यह षड् ऋतु वर्णन अपने ढंग का अद्वितीय ही है। छः ऋतुओं के लिए केवल छः छन्द ही लिखे गये हैं अर्थात् प्रत्येक ऋतु के लिए एक ही छन्द है। विशेषता यहाँ यह है कि प्रत्येक ऋतु में प्रकृति की समस्त मुख्य बातों तथा दशाओं को वियोग विह्वल ब्रजपर ही घटित किया गया है। एक ओर तो प्रकृति-चित्रण है और दूसरी ओर वियोग व्यञ्जना से ब्रज का निरूपण है। समस्त पदावली इसीलिये शिलष्ट रक्खी गई है। कहीं कहीं शब्द-युग्मक (मुहावरे के अनुसार साथ चलने वाले दो शब्द) भी शिलष्ट रूप में रखकर सार्थक किये गये हैं। यथा—

काम विधि बाम की कला में मीन मेष कहा—

छन्द नं० १७

भक्त कवियों ने ब्रज को अपने आराध्य या इष्टदेव का लीलाधाम समझकर उसकी भी बड़ी ही मार्मिक प्रशंसा या स्तुति की है। यह एक साधारण सी बात है कि भक्त और प्रेमी की अपने आराध्यदेव या प्रेम धर्म की सभी वस्तुएँ उतनी ही अच्छी लगती हैं और उनमें

भी उसका उतना ही अनुराग होता है जितना इष्टदेव या प्रेम-पात्र में। रत्नाकर जी ने भी इसी के अनुसार ब्रज और बरसाने आदि की व्यञ्जनामयी मार्मिक महत्ता दिखलाई है। उद्धव ब्रज की बड़ाई करते हुए कहते हैं:—

'छावते कुटीर कहूँ रम्य जमुना कै तीर,
गौन रौन रेती सों कदापि करते नहीं।
कहै रतनाकर विहाइ प्रेम गाथा गूढ़,
स्रौन-रसना मैं रस और भरते नहीं॥
गोपी ग्वाल बालनि के उमड़त आँसू देखे,
लेखि प्रलयागम हूँ नैकु डरते नहीं।
होतौ चित चाव जौ न रावरे चितावन कै,
तजि ब्रज गाँव इतै पाँव धरते नहीं।

कवि-कल्पना के लिए सबसे बड़ी प्रशंसनीय बात यही है कि वह अपनी प्रतिभा से जिस बात का भी चित्रण करे उसे स्वाभाविक और सजीव बना अनुभूति व्यञ्जना के साथ साकार रूप में सामने खड़ा कर दे। 'रत्नाकर' जी की प्रौढ़ प्रतिभा और कल्पना में यही जादू है। वे परिस्थिति प्रकृति और हृदय की ऐसी मर्मज्ञता के साथ जाँच करते हैं कि उसमें तनिक भी बल पड़ने नहीं पाता। इसका ज्वलन्त उदाहरण हमें यहाँ उस कवित्त में मिलता है जिसमें उद्धव के मथुरा को प्रयाण करते और यशोदा राधिका तथा गोपियों के द्वारा कृष्ण के लिए प्रेमोपहार या भेंट देने की बात कही गई है। (छन्द नं० ९७)

धाईं जित-तित तैं बिदाई-हेतु ऊधव की।
गोपी भरीं आरति सँभारति न साँसुरी।
कहै 'रतनाकर' मयूर-पच्छ कोऊ लिए,
कोऊ गुंज-अँजली उमाहे प्रेम-आँसुरी॥
भाव-भरी कोऊ लिए रुचिर सजाव दही,
कोऊ मही मंजु दाबि दलकति पाँसुरी।
पीत पट नंद, जसुमति नव नीत नयौ,
कीरति-कुमारी सुखारी दई बाँसुरी॥

जहाँ गोपियाँ कृष्ण के लिए उद्धव से अपने सन्देश कहती हैं वहाँ जो छन्द लिखे गये हैं वे वस्तुतः साहित्य में बेजोड़ ही से हैं।

कितना अच्छा अभिनय-प्रधान संदेश और कृष्ण निवेदन का कैसा चारु चित्रण मानसिक और शारीरिक अवस्थाओं की पूर्ण सूचना देने वाली व्यञ्जना के साथ छन्द न० ६४ में किया गया है। गोपियाँ कहती हैं कि तुम कृष्ण से यही कहना, और ऐसा नाट्य करके हमारी दशा को निवेदन में सजीव और साकार करके प्रत्यक्षीकृत कर देना, पहले तो यही कहना—

हाल कहा बूझत, बिहाल परीं बाल सबै,
बसि दिन द्वैक देखि दृगनि सिधाइयौ।"
यदि-औसर मिलै औ सर-ताज कछु पूछहिं तौ,
कहियौ कछू न दसा देखी सो दिखाइयौ।"

(क्योंकि ऐसा करने से सब वृत्तान्त उनकी आँखों के सामने

साकार खड़ा हो जायगा और उसे देखकर सम्भव है वे हमारी दशा का अनुमान कर लें और करुणा तथा दया से कुछ पिघल जाँय।)

"आहकै, कराहि, नैन नीर अवगाहि, कछू,
कहिबे कौ याहि, हिचकी लैं रहिजाइयौ।

यही अभिनय करना। किन्तु यदि तुम समझो कि कुछ कहना आवश्यक अथवा अनिवार्य ही है तो—

"नंद जसुदा औ गाय, गोप गोपिका की कछू,
बात वृषभान-भौन हूँ की जनि कीजियौ।
(कहै रतनाकर कहति सब हा हा खाइ,
ह्याँ के परपंचनि सौं रंच न पसीजियौ)

क्योंकि ऐसा करने से कृष्ण के—

आँस भरि ऐहै और उदास मुख ह्वै है हाय!

(जो हम नहीं चाहतीं) इसलिए—

ब्रज-दुख-त्रास की न तातैं साँस लीजियौ।

तो फिर करना क्या? अच्छा करना बस यही कि—

"नामकौं बताइ औ जताई गाम ऊधौ! बस,
स्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियो।"

यहाँ 'राम-राम' पद कैसा व्यञ्जक है। इसमें वीप्सा अलङ्कार नहीं, क्योंकि यह शब्द पुनरुक्ति से प्रणाम वाची एक विशेष शब्द युग्म बन जाता है तथा यह भी व्यञ्जित करता है कि वियोग-व्याकुल गोपियों के जीवन वर्णन की वह घड़ी निकट आ गई है जब राम-राम

ही कहना उचित होता है। यह राम-राम अन्तिम प्रणाम का भाव भी झलकाता है। वस्तुतः दोनों ही छन्द अप्रतिम हैं।

कहीं कहीं रत्नाकर जी ने विहारी आदि प्राचीन कवियों की भाँति वियोगताप का उत्कर्ष अत्युक्ति के साथ चिट्ठी लिखते समय दिखलाया है—

"सूखि जाति स्याही लेखिनी कै नैकु डंक लागैं,
अंक लागैं कागद बररि बरि जात हैं।"

छन्द नं० ९९

उद्धव के चलते समय उनके पीछे पीछे भक्ति और प्रेम के वश में होकर भावनाओं की प्रबल प्रेरणा से बस व्रज के गोप-गोपी ही नहीं चलने लगते, वरन्

"ऊधव कैं चलत चला चल चली यौं चल,
अचल चलै औ अचले ह्वै भये चल से।"

उद्धव चल तो देते हैं परन्तु कुञ्ज, कूल और कालिन्दी की रोदन-मयी दशा को देख देखकर उनकी जो दशा होती है उसका कैसा मर्मस्पर्शी और हृदय द्रावक चित्रण छन्द नं० १०२ और १०३ में किया गया है।

श्री रामकुमार वर्मा

रामकुमार जी का जन्म संवत् १९६२ में मध्य प्रान्त के सागर जिले में हुआ। आपकी स्वर्गीया माता एक कवयित्री थीं, और उन्हीं ने आपको हिन्दी की प्रारंभिक शिक्षा दी। वि० सम्वत् १९८६ में आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए० पास किया; और उसी के बाद आप हिन्दी के लेक्चरर नियुक्त हुए।

प्रारम्भ से ही आपकी रुचि कविता की ओर थी। आपकी 'अभिशाप' 'अंजलि' 'रूपराशि', 'निशीथ', 'चित्तौड़ की चिता', 'चन्द्रकिरण' और चित्ररेखा आदि अनेक कविता की पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। 'चित्ररेखा' पर आपको २०००) का देवपुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है।

कवित्व के साथ साथ कुमार जी में एक उच्चकोटि के समालोचक के गुण विद्यमान हैं। 'साहित्य समालोचना' 'कबीर का रहस्यवाद' तथा 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' आपके आलोचना ग्रन्थ हैं।

'साहित्य समालोचना' आपकी प्रथम रचना है जो कि वि० संवत् १९८७ में प्रकाशित हुई थी। इसमें साहित्यकला के मुख्य

चार अंगों—कविता, कहानी, रंगमञ्च (नाटक) और समालोचना—पर विचार किया गया है।

'कबीर का रहस्यवाद' वि० सम्वत् १९८८ में प्रकाशित हुआ था। इसमें "कबीर का परिचय, रहस्यवाद, अध्यात्मिक विवाह, आनन्द, गुरु हठयोग, सूफीमत, अनन्त संयोग आदि क्रम से कबीर दर्शन का विश्लेषण किया गया है।

'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' अभी हाल ही का प्रकाशित ग्रन्थ है। इसी पर आपको नागपुर विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की डिग्री प्राप्त हुई है। इसमें प्रत्येक कवि का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन और आलोचना की गई है। इसी कारण से इसका नाम आलोचनात्मक इतिहास है।

आपकी समालोचनाओं से यह विदित होता है कि समालोचना करने में कितने अध्ययन की आवश्यकता है। राग, द्वेष आदि भावों से युक्त व्यक्ति समालोचक नहीं हो सकता। वर्मा जी ने इन कठिनाइयों को दूर कर सर्वत्र सहृदयता से काम लिया है।

कबीर का रहस्यवाद

कबीर का रहस्यवाद अपनी विशेषता लिए हुए है। वह एक ओर तो हिन्दुओं के अद्वैतवाद की गोद में खेलता है और दूसरी ओर मुसलमानों के सूफी-सिद्धान्त को स्पर्श करता है। इसका विशेष कारण यही था कि कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रकार के संतों के सत्संग में रहे और वह प्रारम्भ से ही यह चाहते थे कि दोनों धर्म वाले आपस में दूध पानी की तरह मिल जायँ। इसी विचार के वशीभूत हो कर उन्होंने दोनों मतों से सम्बन्ध रखते हुए अपने सिद्धान्तों का निरूपण किया। रहस्यवाद में भी उन्होंने अद्वैतवाद और सूफीमत की 'गंगा-जमुनी' साथ ही बहा दी।

अद्वैतवाद ही मानों रहस्यवाद का प्राण है। शंकर के अद्वैतवाद में जो ईसा की ८वीं सदी में प्रादुर्भूत हुआ, आत्मा और परमात्मा की

अद्वैतवाद

वस्तुतः एक ही सत्ता है। माया के कारण ही परमात्मा में नाम और रूप का अस्तित्व है। इस माया से छुटकारा पाना ही मानों आत्मा और परमात्मा का फिर एक बार एक ही सत्ता स्थापित करना है। आत्मा और परमात्मा एक ही शक्ति के दो भाग हैं जिन्हें माया के परदे ने अलग कर दिया है। जब उपासना या ज्ञानार्जन पर माया नष्ट हो जाता है तब दोनों भागों का पुनः एकीकरण हो जाता है। कबीर इसी बात को इस प्रकार लिखते हैं—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यहु ततकह्यौ गियानी॥

एक घड़ा जल में तैर रहा है। उस घड़े में थोड़ा पानी भी है। घड़े के भीतर जो पानी है वह घड़े के बाहर के पानी से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है। किन्तु वह इसलिए अलग है क्योंकि घड़े की पतली चादर उन दोनों अँशों को मिलने नहीं देती जिस प्रकार माया ब्रह्म के दो स्वरूपों को अलग रखती है। कुम्भ के फूटने पर पानी के दोनों भाग मिलकर एक हो जाते हैं उसी प्रकार माया के आवरण के हटने पर आत्मा और परमात्मा का संयोग हो जाता है। यही अद्वैतवाद कबीर के रहस्यवाद का आधार है।

दूसरा आधार है मुसलमानों का सूफीमत। हम यह निश्चय रूप से नहीं कह सकते कि उन्होंने सूफीमत के प्रतिपादन के लिए ही अपने 'शब्द' कहे हैं पर यह निश्चय है कि मुसलमानी संस्कारों के कारण उनके विचारों में सूफीमत का तत्व मिलता है।

ईसा की आठवीं शताब्दी में इस्लाम धर्म में एक विप्लव हुआ। राजनीतिक नहीं धार्मिक। पुराने विचारों के कट्टर मुसलमानों का एक विरोधी दल उठ खड़ा हुआ। यह फारस का एक छोटा-सा सम्प्रदाय था इसने परम्परागत मुस्लिम आदर्शों का घोर विरोध किया और कुछ समय तक इस्लाम के धार्मिक क्षेत्र में उथल पुथल मच गई। इस सम्प्रदाय ने संसार के सारे सुखों को तिलाञ्जलि दे दी। संसार के सारे ऐश्वर्य्यों और

सूफीमत

सुखों को स्वप्न की भाँति भुला दिया। बाह्य शृङ्गार और बनावटी बातों से उसे एक बार ही घृणा हो गई। उसने एक स्वतन्त्र मत की स्थापना की। सादगी और सरलता ही उसके बाह्य-जीवन की अभिरुचि बन गई। कीमती कपड़े और स्वादिष्ट भोजन से बड़ी घृणा हो गई। सरलता और सादगी का आदर्श अपने सम्मुख रख कर उस सम्प्रदाय ने अपने शरीर के वस्त्र बहुत ही साधारण रखे। वे थे सफेद ऊन के साधारण वस्त्र। फारसी में सफेद ऊन को 'सूफ़' कहते हैं, इसी शब्दार्थ के अनुसार सफेद ऊन के वस्त्र पहिनने वाले व्यक्ति 'सूफ़ी' कहलाने लगे। उनके परिधान के कारण ही उनके नाम की सृष्टि हुई।

सूफ़ीमत में भी यद्यपि बन्दे और खुदा का एकीकरण हो सकता है पर उसमें भाषा का कोई विशेष स्थान नहीं। जिस प्रकार एक पथिक अपने निर्दोष स्थान पर पहुँचने के लिये प्रस्थान करता है, मार्ग में उसे कुछ स्थल पार करने पड़ते हैं उसी प्रकार सूफ़ीमत में आत्मा परमात्मा से मिलने के लिये व्यग्र हो कर अग्रसर होता है। परमात्मा से मिलने के पहिले आत्मा को चार दिशायें पार करनी पड़ती हैं—

१—शरियत
२—तरीकत
३—हक़ीक़त
४—मारिफ़त

इस मारिफ़त में जा कर आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन होता है। वहाँ आत्मा स्वयं 'फना' होकर 'बका' के लिये प्रस्तुत होती है।

इस प्रकार आत्मा में परमात्मा का अनुभव होने लगता है और 'अनल हक्क' सार्थक हो जाता है। इस प्रकार प्रेम में चूर हो कर आत्मा यह आध्यात्मिक यात्रा पार कर ईश्वर में मिलती है और तब दोनों शराब पानी की तरह मिल जाते हैं।

दूसरी बात यह है कि सूफ़ीमत में प्रेम का अंश बहुत महत्व-पूर्ण है। प्रेम ही कर्म है, और प्रेम ही धर्म है। सूफ़ी मत मानों स्थान-स्थान पर प्रेम के आवरण से ढका हुआ है। उस सूफ़ीमत के बाग को प्रेम के फुहारे सदा सींचते रहते हैं। निःस्वार्थ प्रेम ही सूफ़ीमत का प्राण है। फ़ारसी के जितने सूफ़ी कवि हैं वे कविता में प्रेम के अतिरिक्त कुछ जानते ही नहीं हैं। प्रमाण स्वरूप जलालुद्दीन रूमी के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं।

प्रेम के साथ साथ उस सूफ़ीमत में प्रेम का नशा भी प्रधान है। उसमें नशे के ख़ुमार का और भी महत्वपूर्ण अंश है। उसी नशे की ख़ुमार की बदौलत ईश्वर की अनुभूति का अवसर मिलता है। फिर संसार की कोई स्मृति नहीं रहती। शरीर का कुछ ध्यान नहीं रहता। केवल परमात्मा की 'लौ' ही सब कुछ होती है। कबीर ने भी एक स्थान पर लिखा है:—

हरि रस पीया जानिये, कबहूँ न जाय खुमार।
मैं मंता घूमत फिरै नाहीं तत की सार॥

एक बात और है। सूफ़ीमत में ईश्वर की भावना स्त्री रूप में मानी गई है। वहाँ भक्त पुरुष बन कर उस स्त्री की प्रसन्नता के लिये

सौ जान से निसार होता है। उसके हाथ की शराब पीने को तरसता है। उसके द्वार पर जा कर प्रेम की भीख माँगता है। ईश्वर एक दैवी स्त्री के रूप में उसके सामने उपस्थित होता है। उदाहरणार्थ रूमी की एक कविता का भावार्थ इस प्रकार दिया जा सकता है।

प्रियतमा के प्रति प्रेमी की पुकार।

मेरे विचारों के संघर्ष से मेरी कमर टूट गई है।
ओ प्रियतमे आओ और करुणा से मेरे सिर का स्पर्श करो!
मेरे सिर से तुम्हारी हथेली का स्पर्श मुझे शान्ति देता है।
तुम्हारा हाथ ही तुम्हारी उदारता का सूचक है!
मेरे सिर से अपनी छाया को दूर मत करो।
मैं सन्तप्त हूँ, सन्तप्त हूँ, सन्तप्त हूँ।

....

ऐ, मेरा जीवन ले लो,

तुम जीवन स्रोत हो, क्योंकि तुम्हारे विरह में मैं अपने जीवन से श्रान्त हूँ। मैं वह प्रेमी हूँ जो प्रेम के पागलपन में निपुण है। मैं विवेक और बुद्धि से हैरान हूँ।

अंत में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अद्वैतवाद में आत्मा और परमात्मा के एकीकरण होने न होने में चिन्तन और माया का बड़ा महत्व-पूर्ण भाग है और सूफ़ी मत में उसी के लिये हृदय की चार अवस्थाओं और प्रेम का। हम यह पहिले ही कह चुके हैं कि कबीर का रहस्यवाद हिन्दुओं के अद्वैतवाद और मुसलमानों

के सूफ़ी मत पर आश्रित है। इसलिये उन्होंने अपने रहस्यवाद के स्पष्टीकरण में दोनों की—अद्वैतवाद और सूफ़ी मत की–बातें ली हैं। फलतः उन्होंने अद्वैतवाद से माया और चिन्तन तथा सूफ़ी मत से प्रेम लेकर अपने रहस्यवाद की सृष्टि की है। सूफ़ी मत के सभी रूप भगवान की भावना ने अद्वैतवाद के पुरुष रूप भगवान के सामने सिर झुका दिया है। इस प्रकार कबीर ने दोनों सिद्धान्तों से अपने काम के उपयुक्त तत्व लेकर शेष बातों पर ध्यान नहीं दिया है। इस विषय में कबीर की कविता का उदाहरण देना आवश्यक प्रतीत होता है।

परमात्मा की अनुभूति के लिये आत्मा प्रेम से परिपूर्ण होकर अग्रसर होती है। वह सांसारिकता का बहिष्कार कर दिव्य और अलौकिक वातावरण में उठती है। वह उस ईश्वर के समीप पहुंच जाती है जो इस विश्व का निर्माण-कर्त्ता है। उस ईश्वर का नाम है सत्पुरुष। सत्पुरुष के संसर्ग में वह आत्मा उस दैवी शक्ति के कारण हतबुद्धि सी हो जाती है। वह समझ ही नहीं सकती कि परमात्मा क्या है, कैसा है! वह अवाक रह जाती है। वह ईश्वरीय शक्ति का अनुभव करती है पर उसे प्रगट नहीं कर सकती। इसीलिये 'गूगें के गुड़' के समान वह स्वयं तो परमात्मानुभव तो करती है पर प्रकट में कुछ भी नहीं कह सकती। कुछ समय के बाद जब उसमें कुछ बुद्धि आती है और कुछ कुछ जबान खुलती है तो वह एक दम से पुकार उठती है:—

कहहि कबीर पुकारि के अद्भुत कहिये ताहि

उस समय आत्मा में इतनी शक्ति ही नहीं होती कि वह परमात्मा की ज्योति का निरूपण करने के लिये अग्रसर हो। वह आश्चर्य्य और जिज्ञासा की दृष्टि से परमात्मा की ओर देखती रहती है। अन्त में वह बड़ी कठिनता से कहती है:—

वर्णहुँ कौन रूप की रेखा,
दो सर कौन आहि जो देखा।
ओंकार आदि नहिं वेदा,
ताकर कहहु कौन कुल भेदा॥

× × ×

नहिं जल नहिं थल नहिं थिर पवना
को घरै नाम हुकुम को वरना
नहिं कछु होति दिवस औ राती।
ताकर कहूँ कौन कुल जाती॥
शून्य सहज मन स्मृति ते प्रगट भई इक जोति।
ता पुरुष कि वलिहारी निरालम्ब जे होति॥

रमैनी ;६

यहाँ आत्मा सत्पुरुष का रूप देख देख कर मुग्ध हो जाती है। धीरे धीरे आत्मा परमात्मा की ज्योति में लीन होकर विश्व की विशालता का अनुभव करती है और उस समय वह अनन्दातिरेक से परमात्मा के गुण वर्णन करने लगती है:—

जहि कारण शिव अजहुँ वियोगी।
अंग विभूति लाइ मे जोगी॥

शेष सहस मुख पार न पावै।
सो अब खसम सहित समुझावै॥

इतना सब कहने पर अंत में यही शेष रह जाता है कि:—

तहिका गुप्त स्थूल नहिं काया।
ताके शोक न ताके माया॥
कमल पत्र तरंग इक माँहीं।
संगहिं रहै लिप्त पै नाहीं॥
आस ओस अंडन में रहई।
अगनित अंड न कोई कहई॥
निराधार आधार लै जानी।
राम नाम लै उचरै बानी॥

× × ×

भर्मक बाँधल ई जगत कोइ ना करै विचार।
हरि की भक्ति जाने बिना भव बूड़ि मुआ संसार॥

रमैनी ७४

इसी प्रकार संसार के लोगों को उपदेश देती हुई आत्मा कहती है:—

जिन यह चित्र बनाइया, साँचो सो सूरति दार।
कहहि कबीर ते जन भले, जे चित्रवन्तहिं लेहि विचार॥

इस प्रेम की स्थिति बढ़ते बढ़ते यहाँ तक पहुँचती है कि आत्मा स्वयं परमात्मा की स्त्री बन कर उसका एक भाग बन जाती है। यही इस प्रेम की उत्कृष्ट स्थिति है:—

"एक अँड उँकारते, सब जग भया पसार।
कहहि कबीर सब नारी राम की, अविचल पुरुष भतार ॥"

रमैनी २७

और अन्त में आत्मा कहती है :—

"हरि मोर पीव माई, हरि मोर पीव।
हरि बिन रहि न सके मोर जीव ॥
हरि मोरा पीव मैं राम की बहुरिया।
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ॥"

शब्द में ११७

और,

"जो पै पिय के मन नहिं भाये।
तौ का परोसिन के हुलराये ॥
का चूरा पाइल झमकाएँ।
कहा भयो बिछुआ ठमकाएँ ॥
का काजल सेन्दुर कै दीये।
सोलह सिँगार कहाँ भयो कीये ॥
अँजन मंजन करै ठगौरी।
का पचि मरै निगोड़ी बौरी ॥
जो पै पतिब्रता है नारी।
कैसे ही रहौ सो पियहिं पियारी ॥
तन मन जोबन सौंपि सरीरा।
ताहि सुहागिन कहै कबीरा ॥"

इस रहस्यवाद की चरम सीमा उस समय पहुँच जाती है जब आत्मा पूर्ण रूप से परमात्मा में सम्बद्ध हो जाती है। दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यहाँ आत्मा अपनी आकांक्षा पूर्ण कर लेती है और फिर आत्मा और परमात्मा की सत्ता एक हो जाती है। कबीर उस स्थिति का अनुभव करते हुए कहते हैं :—

हरि मरि हैं तो हम हूँ मरि हैं।
हरि न मरै हम काहे को मरि हैं॥

आत्मा और परमात्मा में इस प्रकार का मिलन हो जाता है कि एक के विनाश से दूसरे का विनाश और एक के अस्तित्व से दूसरे का अस्तित्व सार्थक होता है। फ़ारसी में इसी विचार का एक बड़ा सुंदर अवतरण है। निकल्सन ने उसका अँग्रेजी में अनुवाद कर दिया है, उसका तात्पर्य्य यही है :—

*जब वह (मेरा जीवन तत्व) 'दूसरा' नहीं कहलाता तो मेरे

---

*When it (my essence) is not called two my attributes are hers, and since we are one her outward aspect is mine.

If she be called, 'tis I who answer, and I am summoned she answers him who calls me and cries Labbayk (At thy Servise).

And if she speak, 'tis I who converse. Likewise if tell a story, tis she that tells it.

The pronoun of second person has gone out of use between us, and by its removal I am raised above the sect who separate.

—The Idea of personality in sufism Page 20.

गुण उसके (प्रियतमा) के गुण हैं और जब हम दोनों एक हैं तो उसका वाह्य रूप मेरा है। यदि वह बुलाई जाय तो मैं उत्तर देता हूँ और यदि मैं बुलाया जाता हूँ तो वह मेरे बुलाने वाले को उत्तर देती है और कह उठती है "लब्बयक" (जो आज्ञा)। वह बोलती है मानो मैं ही वार्तालाप कर रहा हूँ उसी प्रकार यदि मैं कोई कथा कहता हूँ तो मानो वही उसे कहती है। हम लोगों के बीच में से मध्यम पुरुष सर्वनाम ही उठ गया है। और उसके न रहने से मैं विभिन्न करने वाले समाज से ऊपर उठ गया हूँ।

इसी चरम सीमा को पाना ही कबीर के उपदेश का तत्व था। उनकी उल्ट बासियों में इसी आत्मा और परमात्मा का रहस्य भरा हुआ है।

इस प्रकार रहस्यवाद की पूरी अभिव्यक्ति हम कबीर की कविता में पाते हैं।



पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'

गिरीश जी का जन्म पौष शुक्ल ७ सम्वत् १९५५ वि० में जौनपुर जिले में हुआ था। आपने प्रयाग के कायस्थ पाठशाला कालेज से बी० ए० पास किया और तत्पश्चात् स्वतंत्र रूप से साहित्यिक जीवन व्यतीत करने लगे।

साहित्यक्षेत्र में आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी रही। आपने 'मनोरमा', 'बालसखा' तथा अरुणोदय आदि कई मासिक पत्रों का बड़ी योग्यता पूर्वक सम्पादन किया। उपन्यास क्षेत्र में आपके लिखे 'सन्देह', 'बाबू साहब' 'प्रेम की पीड़ा' 'पाप की पहेली', 'बहता पानी' और 'नादिरा' प्रकाशित हो चुके हैं। 'गुड़ियों का डब्बा' नामक एक कहानी संग्रह भी निकला है। कविता में आपने प्रारम्भिक अवस्था में 'रसाल बन' तथा स्मृति आदि खण्ड काव्य लिखे। आज कल आप 'तारक वध' नाम का एक बड़ा महाकाव्य लिख रहे हैं।

हमारा सम्बन्ध गिरीश जी की समीक्षाओं से है। आपके समालोचना सम्बन्धी दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। 'महाकवि हरिऔध' वि० सम्वत १९८९ में प्रकाशित हुआ था तथा 'गुप्त जी की काव्यधारा' वि० सम्वत १९९३ में। इसके अतिरिक्त आपने

'हिन्दी काव्य की कोकिलाएँ' और कुछ स्फुट लेख आदि लिखे हैं।

'महाकवि हरिऔध' कविसम्राट हरिऔध जी का ५ खण्डों में सब से प्रामाणिक व्यक्तित्व सम्बन्धी अध्ययन है। पहले खण्ड में हरिऔध जी का स्वभाव और व्यक्तित्व का चित्रण किया गया है। दूसरे में प्रारम्भिक काव्य, तीसरे में प्रिय प्रवास, चौथे में चौपदे और पाँचवे में प्रकृति चित्रण। इस प्रकार कवि के व्यक्तित्व और कवित्व शक्ति का पूर्ण आभास मिल जाता है। यद्यपि लेखक का सम्बन्ध हरिऔध जी के साथ गुरु शिष्य का सा रहा है पर फिर भी आप समीक्षाकार के दृष्टिकोण को कभी नहीं भूले हैं।

'गुप्त जी की काव्यधारा' में गुप्त जी के काव्य सम्बन्धी जो जो विशेषताएँ थीं उन सब का प्रदर्शन किया गया है। 'गुप्त जी की कल्पना, अनुभूति, भाषा, शैली, छन्द, कला, गीतिकाव्य, रहस्यवाद, नाटक, 'साकेत' आदि सब का अध्ययन किया गया है।

अंग्रेजी में 'कवि और काव्यमाला' (Life and poetry series) की समीक्षाएँ जिस तरह निकलती हैं उसी श्रेणी की आपकी समालोचनाएँ हैं। आपकी समीक्षाएँ निष्पक्ष, तथा गांभीर्य और पांडित्य से पूर्ण हैं।

गुप्तजी का गीति-काव्य

हिन्दी-साहित्य में गीति-काव्य की ओर कभी प्रवृत्ति ही न रही हो, ऐसी बात नहीं। शुद्ध श्रृंगारिक धरातल पर लिखी गई तथा भावुक नारी हृदय को व्यक्त करनेवाली विद्यापति की गीति कवितायें मधुर भाषा और चुटीले भावों की दृष्टि से अपनी समता नहीं रखतीं। विरहिणी गोपिकाओं के कलेजे के दर्द को अमर पद प्रदान करनेवाली सूरदास की भाव-मग्न लेखनी ही उनसे इस क्षेत्र में टक्कर ले सकी है। महात्मा तुलसीदास ने भी गीति-काव्य लिखा है, लेकिन राम-काव्यकार होने के कारण उन्हें वे सुविधायें नहीं प्राप्त हो सकीं जो राधा-कृष्ण के मधुर व्यक्तित्व के कारण कृष्ण काव्यकारों को सहज ही प्राप्त हो सकती हैं। उनके गीति-काव्य का धरातल ऊँचा ही रह गया, जहाँ उन्होंने संसार के दुख से दुखी होकर भगवान के दरबार में अपनी पत्री निवेदित की है। चरम विकास की ओर अग्रसर होने के लिये सहायक भावुकता के आवाहनार्थ मानवात्मा जिस आर्त्ति को, वेदना को धारण करती है, केवल उसी का गान उनकी मर्य्यादा के भीतर था। अतएव जहाँ हम कृष्ण काव्यकारों में विद्यापति, सूरदास, मीरा, नन्ददास आदि कवियों को सरस गीति-रचना करते देखते हैं, वहाँ राम-काव्यकारों में प्रायः तुलसीदास को छोड़ कर और कोई इस क्षेत्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। कृष्णकाव्यकारों ने भी कहीं तो

गोपिकाओं को आलम्बन बनाकर आध्यात्मिक अनुरंजना के भीतर सांसारिक प्रेम का गीति-काव्य में गान किया है, और कहीं जहाँ वे कुछ ऊँचे उठ सके हैं, अपने ही हृदय को आलम्बन रूप में ग्रहण कर संसृति के आघात से मिलने वाली वेदना को व्यक्त करने की चेष्टा की है। इन दोनों ही विशेषताओं का संयोग सूरदास में आकर्षक मात्रा में दिखलाई पड़ता है। उनके उत्तराधिकारियों की रचनाओं में आध्यात्मिक अनुरञ्जता के अभाव के साथ-साथ संसृति के आघात की अनुभूति भी नहीं थी; अतएव यदि उन्होंने कभी गीति रचना की भी तो वह अधिकांश में नारी और पुरुष के पारस्परिक प्रेमोद्गारों तक ही परिमित रह गई। क्रमशः गीति-काव्य का लोप हो गया और हिन्दी कविता ने अन्तर्जगत् से निकल कर बाह्य-जगत् में विचरण करना शुरू किया।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में कृष्ण-काव्य ही के पथ से गीति-काव्य का फिर उद्धार हुआ, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रिय प्रवास' ने इस क्षेत्र में नेतृत्व प्रदान किया। इस काव्य में यशोदा का, और उनसे भी अधिक राधा का विषाद गीति-काव्य के लिये उपयुक्त सामग्री है। करुणारस का इतना सुन्दर परिपाक करने वाला, हृदय, को इतना द्रवीभूत करने वाला काव्य खड़ी बोली के लिये तो एक नई चीज़ था ही; वास्तव में व्रजभाषा में भी सैकड़ों वर्षों से आविर्भूत नहीं हुआ था। इस काव्य का महत्वपूर्ण स्थल न तो इसका प्रबन्ध है और न इसके वर्णन हैं; इसका सार-भाग वहीं पर है जहाँ हृदय की पीड़ा की अभिव्यक्ति की गई है। गुप्त जी के काव्य "भारत-भारती"

में इसका ठीक उलटा है; उसमें हृदय-तत्व का प्रायः सर्वथा अभाव है। "प्रिय-प्रवास" के बाद उपाध्याय जी ने हृदय तत्व की ओर कम ध्यान दिया। उनके उत्तर कालीन काव्य में स्वाभाविकता के स्थान में परिश्रम का प्रभाव अधिक दृष्टिगोचर होने लगता है। इधर गुप्तजी का ध्यान कला की ओर अधिक आकृष्ट हो गया और उन्होंने गीति-काव्योन्मुखी प्रवाह को अनुकूलता में प्रगति करके 'झंकार' 'साकेत' 'यशोधरा' और 'द्वापर' आदि रचनायें उपस्थित कीं। 'झंकार' के गीत ईश्वर परक हैं। उन गीतों की रच ना गुप्त जी ने अपने व्यक्तित्व को कुछ भुला कर की हैं। जो हो, इतना तो वे स्पष्ट कर देते हैं कि कवि काल-द्वारा प्रस्तुत काव्य प्रवाह के अनुकूल चलने के लिये कितना सन्नद्ध है। 'साकेत' महाकाव्य है, किन्तु उसकी भी प्रधान विशेषता प्रबन्ध नहीं है, उसका विशेष उल्लेख-योग्य स्थल उर्मिला के वे गीत ही हैं जिनमें पति-वियोग की अत्यन्त मार्मिक व्यथा भरी हुई है। 'यशोधरा' के सम्बन्ध में गुप्त जी ने अपने अनुज को सम्बोधित करते हुए लिखा है—'लो गीत, लो कविता, लो नाटक, और लो गद्य पद्य, तुकान्त अतुकान्त सभी कुछ, परन्तु वास्तव में कुछ नहीं।' यह सब होने पर भी जो वस्तु विशेष रूप से हमारे काम की है वह यही है कि कवि ने 'यशोधरा' के हृदय को पीड़ित हृदय व्यक्त करने की चेष्टा की है। 'द्वापर' में तो प्रबन्ध का वह नाम मात्र का ढाँचा भी नहीं रखा गया जो 'यशोधरा' में है; उसमें कवि ने विविध पात्रों के मनोभावों का अध्ययन करने तथा उस अध्ययन को काव्यमयी अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयत्न किया है।

हिन्दी काव्य का वर्तमान युग गीत-काव्य का युग है, मानों बाहर के सौंदर्य से ऊब कर कवित्व मन के भीतर के आनन्दों का रसास्वादन करने के लिये अंतर्मुखी हो गया है। हृदय की वेदना का तीव्र वेग ही गीति-काव्य का प्राण है। व्यक्तित्व के विकास के अनुरूप वेदना की अनेक कोटियाँ होती हैं जिन अतृप्त लालसाओं में भोग की ज्वाला उद्दीप्त रहती है वे अन्य प्राण वेदनाओं की कोटि ही में परिगणित हो सकती हैं। गीति-काव्य के नाम से आज कल जो बहुत सा कूड़ा कर्कट भी प्रकाश में आ रहा है उसकी नीरसता का प्रधान कारण यही है कि उसके जन्म-दाताओं के पास प्रकृत-वेदना का अभाव है। प्रकृत वेदना अपने प्रेम-पात्र के लिये आत्म-बलिदान के रूप में स्वयं को प्रकट करती है, वह पोषण की असमर्थता नहीं है, बल्कि पोषण 'का प्रसाद है। निम्न-लिखित पंक्तियों में पाठक पोषण के एक स्वरूप का दर्शन कर सकते हैं:—

पीने दे पीने दे ओ! यौवन मदिरा का प्याला।
मत याद दिलाना कल की कल है कल आने वाला।
है आज उमंगों का युग तेरी मादक मधुशाला।
पीने दे जी भर रूपसि अपने पराग की हाला।
लेकर अतृप्त तृष्णा को आया हूँ मैं दिवाना।
सीखा ही नहीं यहाँ है थक जाना या छक जाना।
यह प्यास नहीं बुझने की पी लेने दो मन माना।
बस मत कर देना रूपसि बस करना है मर जाना।"

—भगवती चरण वर्मा

इसी प्रकार निम्न-लिखित पंक्तियों में पोषण का प्रसाद वर्तमान है: —

के पतिया लै जायतरे मोरु पिय पास।
हिय नहिं सहै असह दुखरे भलसा आने मास।
एक सर भवन पिया विनु रे मोरा रहलो न जाय।
सखियन कर दुख दारुन रे जग के पति आय।
मोर मन हरि हरि लै गेल रे अपनो मन गेल।
गोकुल तजि मधुपुर बसिरे कवि अपजस लेल।
विद्यापति कवि गा ओलरे धनि धरु पिय आस।
आ ओत तोर मन भावन रे एहि कातिक मास।

—विद्यापति

प्रथम अवतरण में प्रेमी अपने प्रेम-पात्र के 'पराग' की सम्पूर्ण 'हाला' को पी डालना चाहता है, ठीक उसी तरह जिस तरह शायद 'निराला' जी की 'जूही की कली' की सुप्तावस्था में अचानक उस पर टूट पड़ने वाले भौंरे ने चाहा था। द्वितीय अवतरण में यह बात नहीं है; उसकी पंक्तियों में प्रोषित-पतिका नायिका की बड़ी गम्भीर पीड़ा अंकित है।

वेदना में भोग-भावना का जैसे जैसे ह्रास होता जाता है वैसे वैसे उसका स्वरूप निखरता जाता है। क्रमशः प्रेमी अपने प्रेमपात्र से किसी बात की याचना करने के स्थान में उसे अपना ही सब कुछ समर्पित करने को तैयार हो जाता है। तभी प्रेम में परिपक्वता आती है, तभी वह माधुर्य्य से भर जाता है; तब वह डाका डालने और चोरी करने

की चेष्ठा नहीं करता, वल्कि अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्ण भूख और प्यास को बुझा सकने की शक्ति अपने ही में अनुभव करने लगता है।

गुप्त जी के काव्य में प्रेम का कौन सा स्वरूप व्यक्त हुआ है, उसमें त्यागमयी गम्भीरता और स्थिरता है या चंचलता और अशान्ति है? यह पहले ही कहा जा चुका है कि उनके काव्य को नारी-प्रेम अथवा ईश्वर-प्रेम से प्रेरणा नहीं मिलती है। ऐसी अवस्था में उनका कवि-हृदय किसे अपने प्रेम का उपहार प्रदान करेगा? उनके देश-प्रेम की ओर भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा चुका है। देश की भूमि देश की सर-सरितायें पहाड़-निर्भर, पशु-पक्षी और उनके निवासी मनुष्यों के प्रति किया जाने वाला प्रेम ही देश-प्रेम कहा जा सकता है। किन्तु इस क्षेत्र में आने पर भी हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता; गुप्त जी ने एक भी ऐसे गीत का निर्माण नहीं किया है जो भारतवर्ष के अथवा उसमें निवास करने वाले महान् हिन्दू समाज के हृदय को हिला दे। यह है भी बड़े आश्चर्य की बात कि उन्होंने अपने गीत-काव्य के प्रवाह को अपने कवि-व्यक्तित्व के प्रवाह के अनुकूल प्रवाहित नहीं किया। 'झन्कार' के गीतों में उन्होंने रहस्यवाद के पथ पर चलने का प्रयास किया है, तथा 'साकेत' और 'यशोधरा' में पति-वियोगिनी नारी की पीड़ा को व्यक्त करने की चेष्टा की है। क्या ही अच्छा होता यदि 'उर्मिला' और 'यशोधरा' अपने पति-वियोग को भुला कर लोक-संकट के निवारण में दत्तचित्त हो जातीं और अपनी आहों और आँसुओं को व्यक्तिगत पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिये नियुक्त न कर के लोक के कष्ट को दूर करने के लिये प्रयोजित करतीं। उस

अवस्था में इन दोनों ही महिलाओं की पीड़ा का मूल्य कहीं अधिक बढ़ जाता।

व्यक्तिगत दुख, व्यक्तिगत स्वार्थ की पीड़ा से युक्त होने पर भी उर्मिला और यशोधरा के दुख में एक विशेषता है—वह लोक के स्वार्थ में अपने स्वार्थ को नियन्त्रित कर देता है, और उसी प्रकार शुद्ध भी हो जाता है। उदाहरण के लिये उर्मिला कहती है:—

सिर माथे तेरा यह दान
हे मेरे प्रेरक भगवान।
अब मैं माँगू भला और क्या फैलाकर ये हाथ?
मुझे भूल कर ही त्रिभुवन में विचरें मेरे नाथ।
मुझे न भूले उनका ध्यान
हे मेरे प्रेरक भगवान।
डूब बची लक्ष्मी पानी में सती आग में पैठ
जिये उर्मिला, करे प्रतीक्षा, सहे सभी घर बैठ।
विधि से चलता रहे विधान
हे मेरे प्रेरक भगवान।
दहन दिया तो भला सहन क्या होगा तुझे अदेय?
प्रभु की ही इच्छा पूरी हो जिसमें सब का श्रेय।
यही रुदन है मेरा गान
हे मेरे प्रेरक भगवान।

उर्मिला विश्व-प्रेमिका नहीं है, अब अपने पति की प्रेमिका है।

पति की प्रेमिका होकर ही वह पति के आदर्श-प्रेम और उसमें गर्भित त्याग, सभी कुछ पर अपने आपको निछावर करती है। वह विवश हो कर प्रभु की इच्छा में, सब के श्रेय में अपने आपको निमग्न कर देती है।

लगभग उर्मिला ही की तरह यशोधरा भी विश्व-प्रेम के साथ समझौता करती है। राहुल के यह कहने पर कि माँ, तुझे मन के अधीन नहीं होना चाहिये; उसका तो शासन ही करना चाहिये, यशोधरा कहती है:—

यह जन शासक न होता मन का यहाँ
तात ! तो चला न जाता धन उसका जहाँ !
मानती हूँ उस शासन का जब मैं
हलकी न होऊँ नेक रोकर भी तब मैं ?
चपल तुरंग को कसा ही नहीं मारते।
हाथ फेर अंत में उसे हैं पुचकारते।
रखती हूँ मन को दबा कर ही सर्वदा
साँस भी न लेने दूँ उसे क्या मैं यदा कदा ?
कण्ठ जब रूँधता है तब कुछ रोती हूँ
होंगे गत जन्म के ही मैल उन्हें धोती हूँ ?

× × ×

रोती हूँ परन्तु क्या किसी का कुछ लेती हूँ ?
नीरस न हो रसा मैं नीर ही तो देती हूँ !

ठीक है, बेचारी यशोधरा किसी को हानि तो कोई पहुँचाती नहीं। और इस रोने के लिये वह विवश भी है। आखिर वह अपने जी को कितना समझावे ? बहुत अधिक आखें दिखाने से, बहुत अधिक ताड़ना देने से कहीं मन रूपी चंचल घोड़ा एकदम से बंधन तोड़कर भाग जाय तो वह क्या करेगी। इसलिये कभी कभी वह रास ढीली भी कर देती है। इसे वह अपनी दुर्बलता मानती है, तभी तो वह कहती है कि पूर्व जन्म के मैल को मैं आंसुओं से धो रही हूँ। उसका कहना ठीक है, ममता का मैल तो उसमें इतनी कठोर साधना के बाद भी लगा ही हुआ है। वह क्यों बुद्ध के परिमित रूप को अपनाने के लिये इतनी व्याकुल है; जो विश्व भर में बँट चुका, जिस पर सबका समान अधिकार हो चुका, उसे विशेष रूप से अपनाने के लिये वह क्यों कामना-मयी है ? वह क्यों कहती है:—

पहले हो तुम यशोधरा के
पीछे होंगे किसी परा के

× × ×

देखूँ एकाकी क्या लोगे ?
गोपा भी लेगी तुम दोगे।
मेरे हो तो मेरे होगे
भूले हो पहचानो।
चाहे तुम सम्बन्ध न मानो।

नहीं, हम यशोधरा के प्रति निष्ठुर न हों, वह लाड़-प्यार से पाली-

बोली गई राजकुमारी, सुन्दरियों में अनिन्द्य सुन्दरी, कपिलवस्तु के युवराज की दुलारी पत्नी एकाएक विश्व-प्रेम की प्रेमिका बन कर अपनी ममता, अपने अहंभाव, अपने स्वाभिमान को भुला तो नहीं सकती। किन्तु कठिनाई तो यही है कि विश्व-प्रेम की संतति को अंक में धारण करने के लिये इस अधिकार-भावना के त्याग की प्रसव-वेदना तो सहन करनी ही पड़ेगी।

अंत में उर्मिला ही की तरह यशोधरा को भी विश्व-प्रेम की व्यापक भावना के प्रति आत्म-समर्पण करना ही पड़ा है। बुद्धदेव के पधारने पर राहुल की भेंट देते हुए उसको कहना पड़ा है:—

मेरे दुःख में भरा विश्व सुख क्यों न भरूँ फिर मैं हामी।
बुद्धं शरणं धर्मं शरणं संघं शरणं गच्छामि।

पाठक देखेंगे कि उर्मिला और यशोधरा के लिये विश्वप्रेम गान की वस्तु नहीं है; उसे वे विवश होकर स्वीकार करती हैं। उनका व्यक्तिगत दुःख निन्दनीय नहीं है, क्योंकि भोग-विलास के वातावरण में, विश्व के दुखः से बहुत दूर, फूलों की सेज पर सोने वाली इन राज-वधुओं को वही साधना का, कष्टकर किन्तु अनिवार्य तपस्या का अवसर प्रस्तुत कर सका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्त जी का गीति-काव्य न तो विश्व-प्रेम अथवा ईश्वर-प्रेम से उपकरण संग्रह कर सका है और न देश-प्रेम से, हिन्दू समाज की करुणा-जनक परिस्थिति से भी वह अपने आप को अनुप्राणित नहीं कर पाया है। कल्पना का आश्रय

ग्रहण करके भारत का एक ऐसा चित्र ही वह हमारे सम्मुख उपस्थित कर सका है, जो वर्त्तमान प्रकृत अवस्था से तुलना किये जाने पर कृत्रिमता पूर्ण ही समझ पड़ता है। एक गीत की कुछ पंक्तियाँ देखिये:—

मेरे भारत ! मेरे देश !
वलिहारी तेरा वर वेश !

बाहर मुकुट विभूषित भाल
भीतर जटा-जूट का जाल।
ऊपर नभ नीचे पाताल
और बीच में तू प्रण पाल।

बंधन में भी मुक्ति निवेश।
मेरे भारत मेरे देश।

इधर विविध लीला विस्तार।
उधर गुणों का भी परिहार।
जिधर देखिये एकाकार।
किधर कहें हम तेरा द्वार।

हृदय कहीं से करे प्रवेश
मेरे भारत मेरे देश।

तो फिर गुप्तजी के काव्य का मर्म-स्थल कहाँ है ? हम देखते आये हैं कि समाज की कल्याण-कामना की ओर उनकी कवि-कल्पना

अशान्त रूप से उन्हें प्रेरित करती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये व्यक्ति की साधना अनिवार्य्यतः आवश्यक है। इसी व्यक्ति-साधना का गान उन्होंने अपने गीति-काव्य में किया है—वह साधना जो व्यक्ति के अहंकार को, स्वार्थ को चूर्ण-चूर्ण करके समाज के लिये उसे अधिक से अधिक उपयोगी बनाने में समर्थ हो सकती है।

'प्रियप्रवास' का सन्देश

'प्रियप्रवास' राधा और कृष्ण की वियोगान्त प्रणय-कथा है। वियोग की सृष्टि द्वारा 'हरिऔध' ने प्रणय का माधुर्य्य पूर्ण और उन्नायक स्वरूप पाठक को हृदयंगम कराने की चेष्टा की है। यदि वियोग का वातावरण निर्माण न किया गया होता, तो यशोदा और राधा के मनोहर व्यक्तित्व विकास की छटा हमें कहाँ दृष्टिगोचर हो सकती ? वियोग सहज रूप से ही चित्ताकर्षक और हृदयस्पर्शी होता है, फिर जब उसे एक कुशल कलाकार की हृदय-द्राविणी लेखनी का सहयोग प्राप्त हो तब उसके प्रभाव का क्या कहना।

हिन्दी-साहित्य के मध्य कालीन कृष्ण-काव्यकारों को राधाकृष्ण का वियोग प्रस्फुटित करने में बड़ी सुविधा थी। वे कृष्ण को परब्रह्म मानकर चलते थे। गोपियाँ जिनमें राधा भी शामिल थीं, मोहमग्ना थीं ही ऐसी अवस्था में यदि मथुरा से कृष्ण ने ज्ञान और योग का सन्देश भेज दिया तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं थी। परब्रह्म-परमात्मा को तो प्रत्येक क्षण यही संदेश मानव हृदय के सम्मुख प्रस्तुत करना ही चाहिये।

'हरिऔध' जी ने कृष्ण को परब्रह्मरूप में नहीं, मनुष्य रूप में अंकित किया है। उनके कृष्ण जाति हितैषी हैं, त्यागशील भी हैं, परन्तु साथ ही प्रेमिक भी हैं। उन्होंने ब्रज में गोपिकाओं के साथ जैसा प्रेमपूर्ण

व्यवहार किया था उसे देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि उन्होंने उक्त कवियों के कृष्ण की भाँति ज्ञान और योग सन्देश भेज दिया होता तो उनके लिये यह अस्वाभाविक और असंगत होता। इसलिए यह ठीक ही है कि कृष्णजी गोपियों के सम्मुख अपनी कार्य-व्यस्तता और विवशता का कारण पेश करें और प्रेममूर्ति राधा आदि को स्वार्थ त्याग का सन्देश दें। स्वभावतः कोई साधारण कारण न तो प्रभावशाली ही हो सकता है और न श्रीकृष्ण के महान् चरित्र के साथ संगत ही होगा। श्रीकृष्ण वास्तव में वसुदेव और देवकी के पुत्र थे। कंस के मारे जाने के बाद वसुदेव और देवकी के मार्ग का वह कंटक हट गया था, जो अब तक उनके पावों में गड़कर शूल उत्पन्न किया करता था। इस नवीन परिस्थिति में यदि वे श्री कृष्ण को अपने पास रोक लें तो उनका यह कार्य स्वाभाविक ही था। साथ ही राज्य के नवीन अधिपति को कुछ राज्य-संगठन-सम्बन्धी सहायता देना भी उनके लिए आवश्यक हो सकता था। मथुरा के शासक के अच्छे या बुरे प्रबन्ध पर बहुत सी प्रजा का सुख-दुख निर्भर हो सकता था और ब्रजवासियों पर भी उसका प्रभाव पड़ सकता था। अतएव कृष्ण के ब्रज में न जा सकने का यह एक सबल कारण था। इसके लिए श्रीकृष्ण ने यदि स्वार्थ-त्याग किया और गोपियों को भी वैसा ही करने के लिये प्रेरित किया तो यह सर्वथा प्रशंसनीय है। उनका चिन्तित हृदय और खिन्न मनोभाव नीचे के पद्यों में प्रति-बिम्बित है :—

प्राणी है यह सोचता समझता मैं पूर्ण स्वाधीन हूँ।
इच्छा के अनुकूल कार्य्य सब मैं हूँ साध लेता सदा।
ज्ञाता हैं कहते मनुष्यवश में है काल कर्म्मादि के।
होती है घटना-प्रवाह - पतिता स्वाधीनता-यंत्रिता ॥१॥
देखो यद्यपि है अपार व्रज के प्रस्थान की कामना।
होता मैं तब भी निरस्त नित हूँ नानाद्विधा में पड़ा।
ऊधो दग्ध वियोग से व्रजधरा है हो रही नित्यशः।
जाओ सिक्त करो उसे सदय हो आमूल ज्ञानाम्बु से ॥२॥
मेरे ही तुम बन्धु विज्ञवर हो आनन्द की मूर्ति हो।
क्यों मैं जा व्रज में सका न अब लौं हो जानते भी इसे।
कैसी हैं अनुरागिनी हृदय से माता पिता गोपिका।
प्यारे हैं यह भी छिपी न तुमसे जाओ अतः प्रात ही ॥३॥
जैसे हो लघुवेदना हृदय की औ दूर होवे व्यथा।
पावें शान्ति समस्त लोग न जलें मेरे वियोगाग्नि में।
ऐसे ही वर ज्ञान तात व्रज को देना बताना क्रिया।
माता का सविशेष तोष करना औ वृद्ध गोपेश का ॥४॥

प्रियप्रवास की कथा का विकास भी आकर्षक है। आरम्भ ही में हमें श्रीकृष्ण का एक मनोहर चित्र देखने को मिलता है, वे संध्या-समय ग्वालों और गोपों के साथ वृन्दावन से व्रज की ओर लौटते हुये अंकित किये जाते हैं। उस अनुपम शोभा का रसास्वादन करने वाले व्रजवासियों के सुख से हमें ईर्ष्या होने लगती है। परन्तु खेद है, यह ईर्ष्या चिरंजीविनी नहीं हो पाती। प्रथम सर्ग के अन्त में निम्न-

लिखित पंक्तियों को पढ़कर वह शोक के रूप में परिणत हो जाती है :—

"विषद चित्त पटी ब्रजभूमि की।
रहित आज हुई वर चित्त से।
छवि यहाँ पर अंकित जो हुई।
अहह लोप हुई सब काल को।"

विषाद की छाया क्रमशः प्रगाढ़ ही होती जाती है। ज्यों ज्यों हम आगे बढ़ते हैं त्यों त्यों शोक सामग्री की प्रचुरता ही दिखाई पड़ती है।

तिमिर था घिरता बहु नित्य ही,
पर घिरा तम जो निशि आज की।
वह विषाद तमिस्र अहो कभी,
रहित हो न सका ब्रज भूमि से ॥१॥

ब्रजधरा जन के उर आज जो।
विरह जात लगी यह कालिमा।
तनिक धो न सका उसको कभी।
नयन का बहु वारि प्रवाह भी ॥२॥

सुखद थे बहु जो जन के लिए।
फिर नहीं ब्रज के दिन वे फिरे।
मलिनता न समुज्वलता हुई।
दुखनिशा न हुई सुख की निशा ॥३॥

कवि की इन पूर्व सूचनाओं के कारण हम चिन्तापूर्ण उत्कण्ठा के साथ राधाकृष्ण के प्रेम परिणाम का पता पाने के लिये बढ़ते हैं। यद्यपि शब्द और पद के अर्थ को उलटा समझना पाठक ही की मूर्खता है, पर घबराहट और सहानुभूति ऐसी वस्तुयें हैं कि वे बुद्धिमान् को भी मूर्ख बना डाला करती हैं। इस दशा में कवि का निश्चित संकेत होने पर भी, उसके साफ साफ कहने पर भी यदि पाठक के हृदय में यह आशा बनी ही रहे कि कृष्ण जी व्रज में भले ही न आवें प्रथम सर्ग में वर्णित दृश्य सर्वदा के लिये भले ही लोप हो जाय, किन्तु यह हो नहीं सकता कि राधा और कृष्ण फिर जीवन में कभी मिले ही न हों; परन्तु वही होता है जिसका होना पाठक नहीं चाहता। नवम सर्ग में जब श्रीकृष्ण जी ऊधव को बुलाकर उन्हें गोपियों को ज्ञान देने के लिये भेजते हैं, तभी से निराशा उत्पन्न होने लगती है। किन्तु सत्रहवें सर्ग में जब हम पढ़ते हैं कि—

'उत्पातों' से मगधपति के श्याम ने व्यग्र होके।
त्यागा प्यारा नगर मथुरा जा बसे द्वारिका में।

और जब अन्तिम सर्ग के अन्त में कवि की यह सूचना मिलती है:—

तो भी आई न वह घटिका औ न वे बार आये।
वैसी सच्ची सुखद ब्रज में वायु भी आन डोली।
वैसे छाये न घन रस की सोत सी जो बहाते।
वैसे उन्माद कर स्वर से कोकिला भी न बोली।

(तब)

जैसे आते शरद ऋतु है घेर लेती निराशा।
स्वाती सेवी अतिशय तृषा से तपे चातकों को।

वैसे ही हम भी हताश हो जाते हैं।

अब विचारणीय यह है कि प्रियप्रवास के द्वारा हरिऔध जी ने पाठकों के सामने कौनसा सन्देश प्रस्तुत किया है! उसमें क्या नूतनता है?—इस प्रश्न पर भी कुछ विचारना आवश्यक है। यह निर्विवाद है कि पूर्णत्व की ओर मानव व्यक्तित्व के अग्रसर होने की समस्या ही उसमें हल की गई है, मोहमग्ना राधा के हृदय ने इस प्रकार ईश्वरानुभूति का प्रकाश पाया इसी की कहानी उसमें कही गई है। श्रीकृष्ण स्वयं भी इसी पूर्णता की ओर प्रगतिशील होने के निमित्त अपनी प्रिय इच्छाओं का दमन करके मानव हित में संलग्न और त्यागशील देखे जाते हैं। वे अपने आँसुओं को पोंछ कर आहों को दबा कर देश सेवा करते हैं। मानव हित के निमित्त अधिक से अधिक अनासक्ति, कष्ट सहन तत्परता भी सत्य की आराधना के लिये एक सुन्दर मार्ग है; 'प्रियप्रवास' का एक सन्देश तो यही है।

राधा की ईश्वरानुभूति इस पथ से नहीं आयी।

वे स्वयं कहती हैं:—

पायी जाती विविध जितनी वस्तुएँ हैं सबों में।
मैं प्यारे को अमित रंग औ रूप में देखती हूँ।
तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूँगी
यों है मेरे हृदय तल में विश्व का प्रेम जागा॥१॥

हो जाने से हृदय तल का भाव ऐसा निराला
मैंने न्यारे परम गरिमावान दो लाभ पाये
मेरे जी में अनुपम महा विश्व का प्रेम जागा
मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में ॥२॥

विश्वरूप परम प्रभु के सम्बन्ध में उनके विचार निम्नलिखित पंक्तियों में मिलते हैं:—

शास्त्रों में है कथित प्रभु के शीश औ लोचनों की
संख्याएँ हैं अमित पग औ हस्त भी हैं अनेकों
सो होके भी रहित मुख से नेत्र नास्वादिकों से
छूता खाता श्रवण करता देखता सूंघता है ॥१॥
जो आता है न मन चित में जो परे बुद्धि के है
जो भावों का विषय नहिं है नित्य अव्यक्त जो है
है वेदों की न गति जिसमें इन्द्रियों के परे है
सो क्या है मैं अबुध अबला जान पाऊँ उसे क्यों ॥२॥
ज्ञाताओं ने विशद इसका मर्म यों है बताया।
सारे प्राणी अखिल जग के मूर्तियाँ हैं उसीकी।
होती आँखें प्रभृति उनकी भूरि संख्यावती हैं।
सो विश्वात्मा अमित नयनों आदि वाला अतः है ॥३॥
ताराओं में, तिमिर हर में वह्नि में औ शशी में।
पायी जाती परम रुचिरा ज्योतियाँ हैं उसी की।
पृथ्वी पानी पवन नभ में पादपों में खगों में।
देखी जाती प्रथित प्रभुता विश्व में व्याप्त की है ॥ ४ ॥

मैंने बातें कथन जितनी शास्त्र विज्ञान की है।
वे बातें हैं प्रगट करती ब्रह्म है विश्व-रूपी।
पाती हूँ विश्व प्रियतम में विश्व में प्राण प्यारा।
ऐसे मैंने जगत पति को श्याम में है विलोका॥ ५॥
शास्त्रों में है लिखित प्रभु की भक्ति निष्काम जो है।
सो दिव्या है मनुज तन की सर्व-संसिद्धियों से।
मैं होती हूँ सुखित यह जो तत्वतः देखती हूँ।
प्यारे की और परम प्रभु की भक्तियाँ हैं अभिन्ना॥ ६॥

इस विश्व रूप परम प्रभु को सेवा की विधि में भी विशेषता है। परमात्मा की उपासना के जो अनेक पथ हैं उनमें मूर्ति पूजा भी एक है। इस उपासना-प्रणाली का अनुयायी रह कर मनुष्य लोक सेवा से सर्वथा विमुख हो सकता है। उदाहरण के लिये शंकर के भक्त का अपने चारों ओर पीड़ित जनता के हाहाकार के प्रति उदासीन हो कर पड़ा रहना आश्चर्य जनक नहीं कहा जा सकता। किन्तु जिसने विश्व ही को ईश्वर माना है और उसकी उपासना का व्रत लिया है वह लोक सेवा की अवहेलना किस प्रकार कर सकता है?

ईश्वर भक्तों ने भक्ति की नौ श्रेणियाँ बनायी हैं:—(१) श्रवण अभिधा भक्ति (२) कीर्तनापाधि भक्ति (३) वन्दनाख्या भक्ति (४) दासता संज्ञका भक्ति (५) स्मरण अभिधा भक्ति (६) आत्म निवेदन भक्ति (७) अर्चना संज्ञका भक्ति (८) सख्य नाम्नी भक्ति (९) पद सेवनाख्या भक्ति। भक्ति की इन श्रेणियों की क्षेत्र सीमा इनके नामों से ही प्रकट है। मूर्ति द्वारा ईश्वरोपासना में

संलग्न भावुकगण अपनी भक्ति की इन विविध चेष्टाओं को उपास्यदेव ही तक सीमित रखते हैं। परन्तु राधा ने तो विश्व ही को अपना उपास्यदेव मान लिया है। ऐसी दशा में हमें देखना चाहिये कि राधा अपनी उपासना में इन नवों श्रेणियों को कौन कौन सा कार्य प्रदान करेंगी, वे ऊधव से कहती हैं:—

'जी से सारा कथन सुनना आर्त्त-उत्पीड़ितों का।
रोगी प्राणी व्यथित जन का लोक उन्नायकों का।
सच्छास्त्रों का श्रवण सुनना वाक्य सत्संगियों का।
मानी जाती श्रवण अभिधा-भक्ति है सज्जनों में॥ १॥

सोये जागे, तम पतित की दृष्टि में ज्योति आवे।
भूले आवें सुपथ पर औ ज्ञान उन्मेष होवे।
ऐसे गाना कथन करना दिव्य न्यारे गुणों का।
है प्यारी भक्ति प्रभुवर की कीर्तनोपाधि वाली॥ २॥

विद्वानों के स्वगुरुजन के देश के प्रेमिकों के।
ज्ञानी दानी सुचरित गुणी सवतेजस्वियों के।
आत्मोत्सर्गी विबुधजन के देव सद्विग्रहों के।
आगे होना निमित प्रभु की भक्ति है बन्दनाख्या॥ ३॥

जो बातें हैं भवहितकारी सर्वभूतोपकारी।
जो चेष्टाएँ मलिन गिरती जातियों को उठातीं।
हाथों बाँधे सतत उनके अर्थ उत्सर्ग होना।
विश्वात्मा भक्ति भव सुखदा दासता संज्ञका है॥ ४॥

कंगालों की विवश विधवा औ अनाथाश्रितों की।
उद्विग्नों की सुरति करना औ उन्हें प्राण देना।
सत्कार्य्यों का पर हृदय की पीर का ध्यान आना।
भाखी जाती स्मरण अभिधा भक्ति है भावुकों में॥ ५॥

विपद सिन्धु पड़े नर-वृन्द के।
दुख निवारण औ हित के लिए।
अरपना अपने तन प्राण का।
प्रथित आत्म निवेदन-भक्ति है॥ ६॥

सत्रस्तों को शरण मथुरा शान्ति सन्तापितों को।
निर्बोधों को सुमति विविधा औषधी पीड़ितों को।
पानी देना तृषित जन को अन्न भूखे नरों को।
सर्वात्मा भक्ति अति रुचिरा अर्चना संज्ञका है॥ ७॥

नाना प्राणी तरु गिरि लता बेलिकी बात ही क्या।
जो है भू में गगन तल में भानु से मृत्कणों लौं।
सद्भावों के सहित उनसे कार्य्य प्रत्येक लेना।
सच्चा होना सुहृद उनका भक्ति है सख्यनाम्नी॥ ८॥

जो प्राणि पुञ्ज निजकर्म्म-निपीड़नों से।
नीचे समाज-वपु के पग लौं पड़ा है।
देना उसे शरण मान प्रयत्न द्वारा
है भक्ति लोक पति की पद सेवनाख्या॥ ९॥

विश्व भक्ति का यह निरूपण करने के अनन्तर राधा अन्त में कहती हैं—

"कह चुकी प्रिय साधन ईस का।
कुँवर का प्रिय साधन है यही।
इस लिये प्रिय की परमेश की।
परम पावन भक्ति अभिन्न है।"

श्रीमती राधिका के वदनारविन्द से निकले सन्देश को आपने सुना। अब श्री कृष्णचन्द्र के श्रीमुख से प्रसूत इन कतिपय पंक्तियों को देखिये:—

"जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है न कह सकते हैं उसे आत्म त्यागी।
जी से प्यारा जगत-हित औ लोक सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि तल में आत्म त्यागी वही है ॥१॥

है आत्मा का न सुख किसको विश्व के मध्य प्यारा।
सारे प्राणी सरुचि इसकी माधुरी में बँधे हैं।
जो होता है न वश इसके आत्म उत्सर्ग द्वारा।
ऐ कान्ते है सफल अवनी मध्य आना उसी का ॥२॥

× × ×

इच्छा आत्मा परम हित की मुक्ति की उत्तमा है।
वांछा होती विशद उससे आत्म उत्सर्ग की है ॥३॥

'प्रिय प्रवास' में जगत हित, समाज सेवा, आत्म-त्याग और ईश्वरानुभूति के अतिरिक्त प्रकृति सम्पर्क की उपयोगिता का महत्व भी अङ्कित किया गया है। जैसे राधा ने किया था, उन्हें हम अपने विषाद के उत्तेजक रूप में न देखें और न व्याकुलता जनित अपनी दूषित दृष्टि उन पर डालकर कल्पित भयावह छाया से डरें। हम प्रकृति के साथ मैत्री स्थापन करें और उसकी सहानुभूति अर्जित करके अपनी विकलता का शमन करें। मनुष्य की स्वार्थपरता से खिन्न हृदय की संजीवनी शक्ति प्रदान करके प्रकृति निराशा के विषैले प्रभाव से बचाती है।

'प्रियप्रवास' में अन्य सन्देश का संकेत भी है। वह राधाकृष्ण की वियोग-कथा कह कर ही मौन नहीं हो जाता, वह सांसारिक जीवन के एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है, वह तथ्य जो समय द्वारा भावुकता पूर्ण वाल्यकालीन प्रेम की प्रखरता और प्रगाढ़ता नष्ट होने में प्रगट होता है। जो प्रेमी एक दूसरे को गलबाहीं दिये हुये घूमते और संसार-सुख लूटते हैं उनसे ही पूछिए कि क्या कालान्तर में उनके प्रेम की आग ठंढी नहीं पड़ जाती? वे ही बतावें कि क्या वे आनन्दपूर्ण घड़ियाँ जब वे एक दूसरे के प्रति प्रेम का अनुभव करते तथा आँखों की भावुकता और शब्दों की विह्वलता द्वारा अपने आन्तरिक अनुराग की प्रगाढ़ता का परिचय देते और पाते हैं, क्या जीवन में फिर कभी आती हैं? यह एक निष्ठुर तथ्य है कि हमारे जीवन में जो रस एक बार बरस गया वह सदा के लिये गया। हम दीन शक्तिहीन मनुष्य आहें भरा

करें, आखों से आँसू बहाया करें किन्तु काल एक न एक दिन हमारा सर्वस्व ही लूट लेता है। या तो वह हमारे प्रेम मात्र को सदा के लिए छीन कर हमें रुलाता है या उसे हमारे साथ रहने देते हुए भी उसके हृदय को ठंढा कर देता है और यदि उसके हृदय में सरसता रहने भी देता है तो हमीं को प्रेमरसानुभव के अयोग्य बना डालता है। 'प्रियप्रवास' के प्रथम सर्ग में जैसा दृश्य अंकित हुआ है वैसा दृश्य एक बार मनुष्यमात्र के जीवन में दिखलाई पड़ता है और अन्त में जैसी उदासी ब्रज में छायी वैसी ही मनुष्य मात्र के हृदय में छाया करती है। 'प्रियप्रवास' इन्हीं भावनाओं को जगाकर हमारे हृदय को संसार की विचित्रता का हृदयस्पर्शी अनुभव कराता है।

ब्रज के विषाद का प्रतिबिम्ब अपने जीवन में अपने हृदय में पाकर हम उन्हीं की तरह व्याकुल होते हैं और जब परमात्मा का दूत बन कर ज्ञान हमारी रक्षा करना चाहता है, हमारे व्यक्तित्व का विस्तार करके हमारे उन क्लेशों का नाश करना चाहता है, जो हमारी परि-मित अवस्था के कारण उत्पन्न होते हैं तब हमारी कातरपूर्ण दृष्टि जीवन के सरस कवित्वपूर्ण बाल्यकालीन अथवा यौवन-काल-सम्बन्धी सुखों की ओर चली ही जाती है। उन आनन्दों की सरसता का ध्यान सूखे ज्ञान पथ की ओर चलने से हमें विरक्त करता है। परन्तु ज्ञान हमें तभी नीरस जान पड़ता है, उसका स्वरूप हमें तभी प्रखर प्रतीत होता है, जब वह एकाएक असंबद्ध रूप से हमारे सामने आता है, यदि हमारी वेदना की अवस्था कुछ काल तक बनी रहे, यदि निरन्तर कुछ समय तक हमें विकल होना और छटपटाना पड़े, तो हम देखेंगे

कि ज्ञान भी हमारा मित्र और हितैषी है तथा उसकी मूर्ति में सरसता और माधुर्य्य है; क्योंकि काल का आश्रय ग्रहण करके सच पूछिये तो प्राकृतिक नियम हमें सहज रूप से ज्ञान के पथ पर ले चलने में सफल होते हैं। ज्ञान का सन्देश स्वीकार कर लेने पर हमें भी अपने स्वार्थ का ध्यान नहीं रह जायगा; हम भी परोपकार—चिन्ता के समुद्र से शान्ति श्री को प्राप्त करके धन्य जीवन हो जायेंगे।

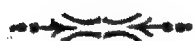


पं० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'

शुक्ल जी का जन्म संवत् १९५८ में हुआ। साहित्य की ओर प्रारम्भ ही से आपकी अभिरुचि थी। आठवें दर्जे में चन्द्रकान्ता पढ़ने के बाद ही आपने एक ऐयारी का उपन्यास लिख डाला था, जिसे इन्टर में पहुँचकर फाड़ डाला। बी० ए० पास करने के बाद आप पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ और लेख लिखने लगे। स्वाभाविक अभिरुचि कहानी और उपन्यास की ओर होने पर भी आपने समालोचना की ओर अधिक ध्यान दिया।

'प्रसाद की नाट्यकला' और 'सुकवि समीक्षा' आपकी आलोचनात्मक पुस्तकें हैं। प्रसाद की नाट्यकला में प्रसाद जी के समस्त नाटकों का अच्छा विश्लेषण किया गया है। पुस्तक के प्रारम्भ में प्राच्य तथा पाश्चात्य नाट्यकला के ऊपर एक सुन्दर निबन्ध भी लिखा गया है। 'सुकवि समीक्षा' में कबीर, सूर, जायसी, तुलसी, मीरा, केशव, बिहारी, भूषण, भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद पर अच्छे समीक्षात्मक निबन्ध लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक 'हिन्दी कहानियों की भूमिका' भी कहानी तत्व और कहानी साहित्य की एक अच्छी आलोचना है।

आपकी आलोचनाएँ बहुत ही युक्ति-युक्त और संयत होती हैं। हिन्दी में नाटकों की आलोचना सर्वप्रथम आपही ने अपनी 'प्रसाद की नाट्यकला' लिख कर की है। आपका स्थान उच्चकोटि के समीक्षाकारों में है।



आधुनिक हिन्दी कहानी

हिन्दी कहानी का अभी उदयकाल है। इधर पिछले दस-पन्द्रह वर्ष से ही कहानी-रचना का युग आरम्भ हुआ है। परन्तु इतने ही थोड़े समय में उसने लोकप्रियता की दृष्टि से बड़ी उन्नति प्राप्त कर ली है। लेखकों और पाठकों, दोनों पर इसकी मोहनी का प्रभाव है। हिन्दी में जितने कहानी के लेखक और पाठक मिलेंगे उतने अन्य विषयों के नहीं। प्रायः कोई भी व्यक्ति, जो कलम-दावात लेकर कुछ लिख सकता है और अपनी रचना को पत्र-पत्रिकाओं में भेजने की कामना रखता है, कहानी अवश्य लिखेगा। बल्कि, यहाँ तक है कि साहित्य-सेवा के उत्साही प्रारम्भकों में पहले पहल कहानी के द्वारा ही साहित्य-साम्राज्य में प्रवेश करना परम सुगम समझा जाता है। इसकी रचना इतनी सरल समझी जाती है कि भविष्य में होने वाले लेखकों की प्रथम रचना अधिकतर कहानी—(या फिर पद्म-कविता) ही होती है। कहानी लिखना सरल हो परन्तु कहानी के जीवन और साहित्य की जागृति के लिए यह लक्षण कुछ बुरा नहीं है।

प्रारम्भ

कुछ परम श्रेष्ठ कलाकारों को छोड़ कर, प्रत्येक कला के प्रारंभिक विकास में, लोगों की चेतना प्रायः कष्टजिज्ञासा और वाह्य उपकरणों की सपरिश्रम साधना में दृष्टिगोचर हुआ करती है। हिन्दी कहानी का ऐसा ही समय है और इसमें उसी के अनुरूप लक्षणों का

दिखाई देना स्वाभाविक है। जहाँ एक ओर कहानी लेखन को बाएँ हाथ का खेल समझने वाले असंख्य लेखकतालोलुपों की अविचारशीलता फैली हुई है, वहीं, ज़रा ऊँचे उठकर, कला की जिज्ञासा को जन्म देने वाले कतिपय लेखकों में उनके प्रयास की स्पष्ट कष्टसाधना और कुलबुलाहट को भी हम देख सकते हैं। वास्तव में इसी जिज्ञासा-मूल चेष्टा और कुलबुलाहट से ही आगे चल कर स्वाभाविक और सरस कला का प्रादुर्भाव होता है। जब जिज्ञासा कष्टसाध्यता और कृत्रिमता से निकल कर अभ्यन्तर की वस्तु हो जाती है तो उसका परिणाम कलाकार के स्वतःप्रेरित उद्‌गार के रूप में अभिव्यक्त होता है। हिन्दी के कहानी-साहित्य में उद्‌गारभूत परमोच्च कला की आशा करना अभी कल्पना मात्र है। उस समय को आते हुए अभी सम्भवतः पचास वर्ष लगेंगे। परन्तु प्रयास और चेतना में कला का प्रवेश अवश्य आरम्भ हो गया।

यहाँ हम हिन्दी के सम्पूर्ण कहानी-साहित्य की चर्चा कर रहे हैं— किन्हीं विशेष व्यक्तिगत कहानियों से हमारा तात्पर्य नहीं है। इनी-गिनी कहानियों में हमको कहीं कहीं सात्विक कला मिल भी जाती है। 'उसने कहा था' का उदाहरण दिया जा चुका है। पाठक को पढ़ते ही मालूम हो जाता है कि उसमें कष्ट साधना और कर्तृत्व की चेतना का नाम नहीं है। एक और कहानी श्रीयुत प्रेमचन्द की 'पञ्च परमेश्वर' है, जिसमें कला का गौरव पूर्ण रूप से विद्यमान है, क्योंकि उसमें भी लेखक का प्रयास प्रयास रूप से नहीं बल्कि उद्‌गार-रूप में अभिव्यक्त होता है।

हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियाँ अधिकतर वर्णनात्मक (narrative और descriptive) ढँग की थीं। जो लेखक उस समय इस तरह की कहानियाँ लिखते थे वे अब भी वैसी ही लिखते हैं। पंडित ज्वालादत्त शर्मा और पण्डित विश्वम्भर नाथ कौशिक की कहानियाँ इस प्रकार की हैं।

पिछले कुछ वर्षों से कहानी में भावुकतामूल संवेदना के तथ्य की ओर कुछ लेखकों का प्रयास आरम्भ हुआ—सिद्धान्त की गवेषणा से तो शायद इतना नहीं, (सम्भव है हमारा यह विचार गलत हो) जितना बँगला और अँग्रेजी कहानियों के आदर्श से। संवेदना की इस जाग्रति के लक्षण हमको श्रीयुत जयशंकर प्रसाद और पण्डित विनोद-शङ्कर व्यास की अधिकांश कहानियों में मुख्य रूप से देखने को मिलते हैं। साथ ही आकस्मिकता के महत्व को ग्रहण करने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होने लगी है। श्रीयुत प्रेमचन्द में यह प्रवृत्ति अधिक बढ़ी हुई मालूम होती है। परिस्थिति का कोई आकस्मिक परिवर्तन और उसके परिणाम में चरित्र का नवीन आदर्शमुखी प्रवाह उनका साधन है। श्रीयुत सुदर्शन प्रायः चरित्र के किसी अन्तरंग गुप्त तथ्य को ढूंढ़ने का प्रयास करते हैं अथवा फिर किसी स्वीकृत चरित्र को एक विशेष परिस्थिति में रखकर उसके अनुरूप ही किसी अतिसंवेदी तथ्य को खोजते हैं। श्रीयुत सुदर्शन और प्रेमचन्द, दोनों, का आधार वर्णनात्मक ढँग का ही रहता है।

विकास और परिवर्तन के समयों में साहित्य की किसी स्थायी प्रवृत्ति का पता लगाना कठिन हुआ करता है। प्रत्येक छोटी छोटी

अवधि के भीतर उसमें नई नई प्रगतियों और भावनाओं की सम्भावना रहती है। ऐसी अवस्था में जिस लेखक की प्रणाली अभी कल नई थी वही आज पुरानी हो जाती है और नवीन प्रगति में उसका विशेष भाग नहीं होता। कहानी की परम आधुनिक स्फुरणा को देखते हुए, श्रीयुत हृदयेश की कहानियाँ वर्तमान प्रयास का अभिन्न अंग नहीं रहीं। उन्होंने यद्यपि भावुकता को स्थान दिया है, तथापि उनकी भावुकता उनकी वर्णनात्मक (descriptive) शैली में विलीन होकर घटना या चरित्र की किसी तीव्र संवेदना के लिए प्रायः असमर्थ हो जाती है। उनके वर्णन के अद्भुत (romantic) ढँग में संस्कृत-प्रणाली के अलङ्कार प्रयोगों और प्रकृति के लम्बे चित्रों का आजकल की चरित्र-संवेदना और आकस्मिकता-सम्बन्धी जिज्ञासा से कोई, घनिष्ठ क्या, सामान्य सम्बन्ध भी नहीं है। तथापि, उनकी रचना की एक अलग सत्ता है जो अध्ययन करने योग्य है।

जिस कारण से विकास-काल में आज की वस्तुएँ कल पुरानी होती हैं उसी कारण से यह कहना असम्भव है कि अगले दस या पन्द्रह वर्षों में हिन्दी कहानी का भविष्य क्या होगा और उसकी धारा किस ओर बहेगी। साथ ही भारतीय वातावरण भी तो बड़ी जल्दी जल्दी बदल रहा है और नित्य प्रति नई नई समस्याएँ, नई नई भावनाएँ और नए नए आदर्श हमारे जीवन-संग्राम का अङ्ग बनते जा रहे हैं। फिर भी चाहे जो प्रवृत्तियां और चाहे जो भावनाएँ भविष्य में अस्तित्व को प्राप्त हों, कहानी के लिए वे अगम्य नहीं होंगी; और यह आशा की जा सकती है कि कहानी नए नए क्षेत्रों

में प्रवेश करती हुई भी, अपनी सत्ता को बहुत समय तक बनाए रहेगी।

हिन्दी कहानी की वर्तमान साधारण प्रवृत्ति को हमने देखा। परन्तु एक सामान्य प्रवृत्ति के होने पर भी, भिन्न भिन्न लेखकों की रुचि और सामर्थ्य के अनुसार, भिन्न भिन्न प्रकार के पाठकों की रुचि के लिए, सर्वत्र भिन्न भिन्न रुचियों और प्रकारों की कहानियां लिखी ही जाती हैं। कुछ कहानियां विशिष्ट उद्देश्य से लिखी जाती हैं; कुछ कहानियां उद्देश्य लेकर आरम्भ नहीं होतीं। लिखने की पद्धतियों को देखते हुए मालूम होता है कि कहानी लिखने की ऐतिहासिक प्रणाली (अर्थात् जिसमें लेखक दूसरे के वृत्त का वर्णन करता है), आत्मचरित्र-प्रणाली (जिसमें पात्र या नायक स्वयं अपनी कथा कहता है), कथोपकथन-प्रणाली (जिसमें सारी कहानी पात्रों के वार्तालाप द्वारा ही सुनाई जाती है), पत्र-प्रणाली (जिसमें तमाम कहानी पत्रों के रूप में कही जाती है) और डायरी-प्रणाली (अर्थात् जिसमें पत्रों के स्थान में किसी पात्र की डायरी के उद्धरण का प्रयोग किया जाता है) आदि अनेक रीतियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक रीति की अपनी अपनी सुविधाएँ और कठिनाइयाँ हैं। हिन्दी में ऐतिहासिक प्रणाली की कहानियाँ ही बहुत अधिक हैं; उसके बाद कुछ आत्मचरित्र और पत्र के रूप में। कथोपकथन और डायरी के उदाहरण कम हैं। श्रीमती तेजरानी दीक्षित, बी० ए०, की कहानी दूसरे प्रकार की है; और कुछ अंश में गुलेरी की 'उसने कहा था' प्रथम प्रकार की।

विषय की दृष्टि से सामाजिक, तदनन्तर गार्हस्थ्य, कहानियों की बहुलता है। इन दोनों प्रकार की कहानियों को लेखक प्रायः उद्देश्य का साधन बनाया करते हैं। उद्देश्य में समाज-सुधार का दावा ज़बर्दस्त रहता है। जहाँ यह दावा झूठा होता है वहाँ प्रभावहीन या अश्लील कहानियाँ देखने में आती हैं। सामाजिक कहानियों के दूसरे पहलू में प्रायः समाज के विविध अंगों का रीतिनीति का अध्ययन रहता है। इसके अतिरिक्त राजनैतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, जासूसी, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, भावुक, अद्भुत (romantic), साहसिक (adventurous) रूपक के ढँग की (allegorical), छायावादी, आदि असंख्य प्रकार की कहानियां हो सकती हैं। वैज्ञानिक कहानियों के अन्दर भौगोलिक, जीवविद्या सम्बन्धी आदि कहानियों की गणना की जा सकती है। हिन्दी में वैज्ञानिक और रूपक के ढँग की कहानियों का अभाव सा है। एक वैज्ञानिक कहानी 'सुन्दरी मनोरमा की कथा' कई वर्ष हुए 'विज्ञान' में छपी थी।

———

प्रसाद के नाटक

कथोपकथन और क्रियाव्यापार के सदुपयोग में किसी नाटककार की विशेषता देखी जा सकती है। इसके बाद उसकी शैली और उसके विचार, उसकी विशेषता के सम्पादक होते हैं। हिन्दी के नाटककारों में जो एक लेखक का एक एक वर्ग है उसे हमने देखा है। उनमें श्रीयुत जयशङ्कर 'प्रसाद' ने अपना एक स्थान प्राप्त किया है जो सब से विशिष्ट और सब से अधिक प्रख्यात है।

प्रसाद के अब तक आठ नाटक प्रकाशित हुए हैं।—विशाख जनमेजय का नागयज्ञ, अजातशत्रु, कामना, स्कन्दगुप्त, विक्रमादित्य, करुणालय, राज्यश्री और एक घूँट। इनमें से अपने पहले नाटक 'विशाख' में उन्होंने कुछ सिद्धान्त भी संक्षेप में उपस्थित किये हैं। परन्तु उनके प्रथम नाटक और अन्तिम नाटक में इतना अन्तर हो गया है कि उन सिद्धान्तों के आधार पर हम उनके नाटकों की कोई सामान्य धारणा नहीं बना सकते। उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त उनके दो और नाटक 'प्रायश्चित्त' और सज्जन' भी 'चित्राधार' नामक संग्रह में छपे हैं। ये दोनों अधिक पहिले के लिखे मालूम होते हैं।

'विशाख' की भूमिका के आधार पर कम से कम एक बात कही जा सकती है। अपने पहले ही नाटक में उन्होंने कुछ नाटकीय आदर्श स्थिर करने की जो चेष्टा की है उससे प्रारम्भ से ही, एक कलात्मक प्रयास का अनुमान किया जा सकता है। कलात्मक

प्रयास अभ्यास की भी अपेक्षा किया करता है। उनके नाटकों का क्रमानुगत अनुशीलन करने पर इस अभ्यास के चिन्ह भी मिल जाते हैं। 'विशाख' के बाद धीरे धीरे एक ही प्रकार की शैली और विचारपद्धति अधिकाधिक विकसित और परिपक्व होती जाती है। इसके अतिरिक्त 'प्रसाद' ने अन्य भिन्न भिन्न प्रकार के नाटक लिखने का भी उद्योग किया है। उनका 'करुणालय' एक गीति-नाट्य है 'कामना' रूपक (allegery) है और 'एक घूँट' में आधुनिक सांकेतिकता या संकेतवाद (symbolism) की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। और अपनी प्रखर प्रतिभा के कारण इन तमाम नये प्रयासों में उन्होंने कहीं भी भद्दापन नहीं आने दिया है। साथ ही उनकी शैली की स्वाभाविक विशेषता सब में समान रूप से अपनी छाप छोड़ती हुई दृष्टिगोचर होती है।

देशकाल का प्रभाव

रचनाक्रम

किसी नाटककार के ऊपर देश और काल की परिस्थितियों का कहाँ तक प्रभाव पड़ा है इसका पता लगाने के लिये हमको मालूम है, उसकी शैली और विचारधारा का हमको अन्वेषण करना पड़ता है। यदि उसकी शैली और विचार-धारा असम महत्व की है अर्थात् यदि उनका क्रमशः विकास हुआ है तो हमें इस विकास के क्रम को देखने की आवश्यकता है। श्रीयुत जयशङ्कर 'प्रसाद' की शैली और विचार का क्रमशः विकास हुआ है। परन्तु दुर्भाग्य से उनके भिन्न नाटकों के रचनाक्रम को जानने का हमारे पास साधन विशेष नहीं है। अधिक से अधिक यह कहा

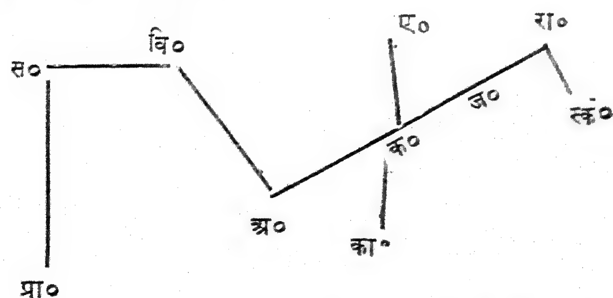
जा सकता है कि 'चित्राधार' में संगृहीत उनके दो रूपक शायद उनकी सर्वप्रथम रचनाओं में से हैं। उनका प्रथम नाटक जो स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित हुआ वह 'विशाख' है। 'प्रसाद' राज्यश्री को अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक कहते हैं जो पहले पहल 'इन्दु' में प्रकाशित हुआ था। परन्तु स्वतन्त्र प्रकाशन के क्रम में यह सबसे पिछले नाटकों में से है। नाटक की भूमिका में लेखक ने इसके सम्बन्ध में कहा है—"उस समय वह अपूर्ण ही-सा था, वर्तमान रूप इसका कुछ परिवर्तित और परिवर्धित है, किन्तु मूल में नहीं।" 'मूल' से अभिप्राय यहाँ शायद केवल रचनाकाल से है, अतएव, शैली के अध्ययन में, एकाध बात को छोड़कर यह नाटककार के प्रारम्भिक विकास की समुचित सूचना कदाचित न दे सके, प्रकाशन क्रम में 'विशाख' के बाद, 'अजात शत्रु' और फिर 'जनमेजय का नागयज्ञ' आते हैं। 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' इनके बाद का है।

उनके भिन्न भिन्न नाटक असम महत्व के हैं। असमता का कारण शैली और विचार धारा का विकास है। परन्तु इससे हमको

उत्कर्ष-क्रम में भिन्न भिन्न नाटकों का स्थान

यह आशा न करनी चाहिये कि उनकी रचना के आनुपूर्व्य में हमको एक समान विकास-क्रम भी दिखाई देगा। 'विशाख' के बाद उनकी शैली और दार्शनिकता एक दम ही इतनी अतिरञ्जित हो उठी कि 'अजात शत्रु' उनका भार न सम्भाल सका। परन्तु उसके अनन्तर ही इन दोनों प्रवृत्तियों में संयम आ गया और बाद के नाटकों में कला का उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता गया। 'राज्यश्री'

प्रसाद का सर्वश्रेष्ठ नाटक है क्योंकि वह उनकी पहिली और पिछली दोनों प्रकार की रचना है। उसमें प्रारम्भ की अनतिरंजना और बाद की संयत साहित्यिकता है। 'स्कन्दगुप्त' 'राज्यश्री' से कुछ विशेष हीन नहीं है परन्तु अधिक लम्बा हो जाने के कारण उसको 'राज्यश्री' से नीचे मानना चाहिये। प्रकाशन-क्रम को दृष्टिगत रखते हुए प्रसाद के नाटकों के सापेक्षिक उत्कर्षक्रम का कुछ अनुमान, सम्भव है, नीचे के रेखा चित्र से किया जा सके।



इस चित्र में संकेताक्षरों का अभिप्राय इस प्रकार है:—प्रा=प्रायश्चित्त; स - सज्जन; वि=विशाख; अ=अजातशत्रु; का=कामना; क=करुणालय; ज=जनमेजय का नागयज्ञ; ए - एक घूँट; रा=राज्यश्री। स्क—स्कन्दगुप्त। 'कामना', 'करुणालय' और 'एक घूंट' अन्य नाटकों से भिन्न प्रकार की रचनाएँ हैं—ये 'प्रसाद' की सामान्य नाट्य-प्रवृत्ति की द्योतक नहीं हैं। अतः इनको एक अलग लकीर से सूचित किया गया है। परन्तु 'करुणालय' में विभिन्नता की प्रवृत्तिऔर सामान्य प्रवृत्ति दोनों का मेल है। इसलिये, उसकी

सामान्य प्रवृत्ति सूचक रेखा से यथास्थान सन्धि कराई गई है। उत्कर्ष की दृष्टि से उसका स्थान 'नागयज्ञ' और विशाख से नीचे परन्तु 'अजातशत्रु' के ऊपर है। अपनी स्वतन्त्र रेखा में वह 'कामना' के ऊपर और 'एक घूंट' के नीचे है। समस्त नाटकों के उत्कर्षक्रम में 'राज्यश्री' सब से अधिक श्रेष्ठ है और 'प्रायश्चित्त' सब से कम।

पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी

हजारीप्रसादजी का जन्म सं० १९६४ वि० में बलिया जिले में हुआ था। आपने काशी विश्वविद्यालय से ज्योतिषाचार्य और साहित्याचार्य की उपाधियाँ प्राप्त की। आजकल आप शान्ति निकेतन, बोलपुर में अध्यापक हैं।

संस्कृत और वंगभाषा के साहित्य, उसकी रचना-प्रणालियों और मूल-प्रवृत्तियों को सामने रखकर हिन्दी-साहित्य के क्रम-विकास पर आपने समय-समय पर जो दृष्टि डाली है, ऐतिहासिक धरातल का जो दिग्दर्शन उपस्थित किया है, वह हिन्दी के लिए आपकी मौलिक देन है। आपने 'सूरसाहित्य' और 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक दो समीक्षा सम्बन्धी पुस्तकें लिखी हैं।

साहित्यिक कृति की समीक्षा में द्विवेदीजी कला के अभिनव उपकरणों की इतनी छानवीन नहीं करते जितनी उसके समाज तत्व, जीवन-रहस्य और चरित्रों की सृष्टि और उनके विकास की। युग-निर्माण की प्रेरणाओं, भाव-वृत्तियों और कल्याणों की ओर उनका सहज आकर्षण रहता है। हिन्दी के आधुनिक समालोचक वर्ग में द्विवेदी जी अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं।

सूरदास और नन्ददास की गोपियाँ

वैष्णव कवियों, विशेषकर भक्तों की कविता की आलोचना करना आग से खेलवाड़ करना है। सूरदास या नन्ददास कविता नहीं करते थे, भजन गाते थे। वे साहित्य की सृष्टि करने के उद्देश्य से नहीं गाते थे; गाते थे साधना के लिये, साधना भी व्रजतत्व की, जहाँ लौकिक रस बिलकुल विपर्यस्त हो जाते हैं। व्रजतत्व में जो काम है वह प्रेम है, जो प्रेम है वही राग है, जो राग है वही भक्ति है। इस व्रजतत्व की आलोचना करने का अधिकार सबको नहीं है। हमलोग दुनियावी प्रेम और काम के समुद्र में आजीवन निमग्न रहते हैं और मौके बेमौके इन वैष्णव कवियों की प्रेमलीला का गान सुनकर उन पर बरस पड़ते हैं। आज इस बीसवीं शताब्दी के विश्लेष युग में जबकि कोई भी साधना स्थाई रूप से अग्रसर नहीं हो पाती हमने काम और प्रेम की परिभाषा की है और बड़े बड़े तत्व खोज निकाले है! व्रजतत्व का मर्मज्ञ भक्त विश्वास करता है कि वहाँ काम और प्रेम दो चीज नहीं है। इस युग के साहित्य-सूर इसे सच समझें या झूठ, वह यही समझ कर भजन करता है। उसी प्रेम तत्व की आलोचना में प्रवृत्त होते समय हम गोलोकवासी वैष्णव भक्त से प्रार्थना करते हैं कि हे वैष्णव कवि, तुम्हारी प्रेमलीला का वास्तविक रहस्य न समझते हुए भी इतना हम जानते हैं कि वह हमारी काम और प्रेम की कल्पनाओं से परे है। उस मूल प्रेम-तत्व के सम्बन्ध में हम एक

हम मौन रहेंगे ! देखेंगे केवल उस प्रेम की दिशा-वह किधर से आया था, किधर गया था, यह प्रश्न हमारी आलोचना की अपेक्षा नहीं रखता। वह निश्चय ही राधिकारानी और ब्रजराज की ओर चला गया था।

सूरदास और नन्ददास दोनों ही एक ही सम्प्रदाय के साधक थे, दोनों ही ने भक्तजनों के हृदय पर आसन पाया है और दोनों का समय करीब करीब एक ही है। इन दोनों महात्माओं ने भ्रमर-गीत तथा उद्धव और गोपियों के संवाद लिखे हैं। इन संवादों में ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का मार्ग सहज और महान् बताया गया है। योग और निर्गुण उपासना की जगह सगुण उपासना की महिमा प्रतिष्ठित की गई है। दोनों संवादों के पात्र, कथा, विषय और प्रणाली एक ही है। दोनों संवादों का उद्देश्य भी एक ही है। अतः यह देखना शायद अनुचित न होगा कि इन संवादों के वर्णित प्रेम-मार्गों में कुछ विशेषता है या नहीं।

नन्ददास की गोपियाँ सूरदास की गोपियों से अधिक तार्किक हैं। निर्गुण उपासना का प्रसंग हो या योग का वे उद्धव की युक्तियों का इस खूबी से खंडन कर देती हैं कि सिखाये पढ़ाये उद्धव निरुपाय होकर दूसरा विषय छेड़ देते हैं।

उद्धव कहते हैं:—

जो उनके गुन होंय वेद क्यों नेत बखानैं।
निर्गुन सगुन आतमा रचि ऊपर सुख मानैं।

वेद पुराननि खोजि कै पायौ किनहुँ न एक।
गुनही के गुन होंहि ते कहो अकास कि टेक।
सुनो व्रजनागरी।

गोपियाँ जवाब देती हैं:—

जौ उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते!
बीज बिना तरु जमैं मोहिं तुम कहो कहाँ ते?
वा गुन की पट-छाँहरी माया दर्पन बीच।
गुनते गुन न्यारे भये अमल वारिजल कीच।
सखा सुनु स्याम के।

उद्धव रास्ता न देखकर दूसरा तर्क उठाते हैं:—

माया के गुन और और हरि के गुन जानो।
उन गुन को इन भाँति आनि काहे को सानो।
जाके गुन अरु रूप को जान न पायो भेद।
तातें निर्गुन रूप को वदत उपनिषद वेद।

उद्धव पहले कह गये थे कि उनके तो गुण ही नहीं है; अगर होते तो वेद नेति-नेति क्यों कहते? अब कहते हैं हरि के गुण कुछ और हैं, माया के और। माया के गुणों को हरि में आक्षेप करना अच्छा नहीं। असल में हरि के गुणरूप का भेद न समझ कर ही वेद उपनिषद उन्हें निर्गुण कहते हैं।

गोपियों ने इसका भी जवाब दिया—

वेदहु हरि के रूप स्वाँस मुख से जो निसरै।
कर्म क्रिया आसक्त सबै पिछली सुधि बिसरै।

कर्ममध्य ढूंढै सबै कितहुँ न पायो देख।
कर्म रहित हो पाइये तातें प्रेम विसेख।
सखा सुनु स्याम के।

इस प्रकार तर्क में नन्ददास की गोपियाँ सदा उद्धव से बीस रहती हैं। परन्तु सूरदास की गोपियाँ तर्क जानती ही नहीं। वे स्वीकार कर लेती हैं कि योग और निर्गुण मार्ग बहुत अच्छा है, पर अबला ग्वालिनें योग कैसे करेंगीं? नन्द नन्दन के साथ जिन्होंने प्रत्यक्ष केलि की है उन्हें निर्गुण मानने की जरूरत क्या है? तर्क वे बिलकुल नहीं जानतीं—

उधो जी हमहिं न योग सिखैये।
जेहि उपदेस मिलैं हरि हमको सो व्रत नेम बतैये।
मुक्ति रहो घर बैठि आपने निर्गुन सुनत दुख पैये।
जिहि सिर केश कुसुम भरि गूँदे तेहि कैसे भस्म चढ़ैये।
जानि जानि सब मेगन भये हैं आपुन आपु लखैये।
सूरदास प्रभु सुनहु न वा विधि बहुरि कि या ब्रज ऐये।

ऊधो मन न भये दस-बीस!
एक हुतो सो गयो स्याम संग को अवराधे ईस?
इन्द्री सिथिल भई केसो बिन ज्यों देही बिन सीस।
आसा लगी रहत तनु स्वासा जी जो कोटि बरीस
सूरदास वा रस की महिमा जो पूछे जगदीस।

राखो सब यह योग अटपटो ऊधो पाँइ परौं।
कहाँ रस रीति कहाँ तन सोधन सुनि सुनि लाज मरौं॥

× × ×

सूरदास की गोपियों का एक ही तर्क है। ऊधो, योग की बात न सिखाओ। कुछ ऐसी बात बताओ जिससे प्यारे मिलें! इस सादगी के सामने बड़े-बड़े तर्क चूड़ामणि मौन हो जा सकते हैं, उद्धव तो फिर भी भक्त थे। स्वयं प्रेम की महिमा के कायल थे। उद्धव जहाँ कुछ ज्ञान कथा शुरू करते हैं, वहीं सरल प्रेम का ऐसा महासागर उमड़ पड़ता है कि जो कुछ कहा वह न जाने कहाँ बह जाता है। नानारूप में एक ही बात सुनायी पड़ती है—योग और निर्गुण की बात मत कहो, श्याम से मिला दो! नन्ददास के उद्धव को तर्क में परास्त होना पड़ता है, सूरदास के उद्धव अपना तर्क समझा ही नहीं पाते, उन्हें विजयी होने का मौका ही नहीं मिलता। नन्ददास की गोपियाँ युक्ति से प्रेम की महिमा स्थापित करती हैं, सूरदास की गोपियों के पास विरह का ऐसा खजाना है कि उसी को बाँटने से फ़ुरसत नहीं मिलती, युक्ति और तर्क कौन करे?

इस प्रसंग में कुब्जा के प्रति उपालंभ भी ध्यान देने योग्य है। नन्ददास की गोपियां कुब्जा की खूब खबर लेती हैं। सूरदास की गोपियाँ भी निःश्वास फेंककर एक बार कुब्जा का नाम लेती हैं और भाग्य को दोष देकर रह जाती हैं। नन्ददास की गोपियाँ कुब्जा का नाम स्मरण करते ही आपे से बाहर हो जाती हैं—

कोउ कहैं रे मधुप तुम्हें लज्जा नहिं आवै।
सखा तुम्हारो स्याम कूबरी नाथ कहावै॥
यह नीची पदवी हुती गोपीनाथ कहाय।
अब जदुकुल पावन भयो दासी जूठन खाय॥
भरत कह बोल के।

× × ×

कोउ कहै हो मधुप स्याम योगी तुम चेला।
कुब्जा तीरथ जाय कियो इन्द्रिन को मेला॥
मधुबन सुधि बिसराय कै आये गोकुल माहिं।
इहाँ सबै प्रेमी बसैं तुमरो गाहक नाहिं॥
पधारो रावरे।

❀ ❀ ❀

कोउ कहैं रे मधुप होइ तुम सो जो संगी।
क्यों न होय तन स्थान सकल बातन चौरंगी॥
गोकुल में जोरी कोऊ पाई नाहिं तुम्हारि।
मदन त्रिभंगी आपुही करी त्रिभंगी नारि॥
रूप गुन सील को।

और इतना कह चुकने के बाद—

ता पाछे इक बार ही रुदित सकल ब्रज नारि।
हा करुणामय नाथ हा केशव कृष्ण मुरारि।
फारि हियरो चल्यो।

नन्ददास की वे गोपियाँ दुनियां को जानती हैं। वे प्रत्येक बात की छान बीन कर सकती हैं। कितनी करुणाजनक कल्पना है यह ! प्रेममूर्ति गोपियों को छोड़ कर करुणानिधान भगवान् कुब्जा से प्रेम करने लगे। यह सोचना भी भयानक है—'फारि हियरो चल्यो।' ऊद्धव ने ठीक ही समझा—

ये सब प्रेमासक्त हैं कुल लज्जा करि लोय।

धन्य ए गोपिका।

परन्तु सूरदास की गोपियाँ इतना सोच नहीं सकतीं, अपनी व्यथा के अपार समुद्र में आपही डूबती उतराती ये ब्रजबालाएँ दूर तक की बात सोचने की फुरसत नहीं पातीं। कहीं कुब्जा याद आ गई तो उसका नाम लेकर एक बार लम्बी साँस छोड़ कर फिर अपना ही चर्खा शुरू कर किया—हाय ऊधो, नन्द-नन्दन को भूलने की बात कह रहे हो ? तुम्हारी बात समझ में नहीं आती—

उधो, कहा हमारी चूक।
वे गुन औगुन सुनि सुनि हरि के हृदय उठत है हूक।
वेही काज छाँड़ि गये मधुबन हय धरि कहा करी।
तन-मन-धन आतमा निवेदन सोउ न चितहिं धरी॥
रीझे जाइ सुन्दरि कुबिजहिं यह सुनि आवै हाँसी।
यद्यपि कूर कुरूप कुन्दरस तद्यपि हम ब्रजबासी।
एतेऊ पर प्रान रहत हैं धार कहहु का कहिये।
पूरब कर्म लिखे विधि अच्छर सूर सबै सो सहिये॥

मधुप विराने लोग बटाऊ ।
दिन दस रहे आपने कारन तजि गये मिले न काऊ ।
प्रीतम हरि हमको सिधि पठई आयो योग अगाऊ ।
हमको योग भोग कुबिजा को उहि कुल उहै सुभाऊ ।
जान्यो योग नन्द नन्दन को कीजै कौन उपाऊ ।

❀ ❀ ❀

हम व्रज बाल गोपाल उपासी ।
ब्रह्म ज्ञान सुनि आवै हाँसी ।।
व्रज में योग कथा लै आयौ ।
मन कुबिजा कूबरहिं दुरायौ ।।

❀ ❀ ❀

इस प्रकार दोनों महात्माओं के प्रेम में एक स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। नन्ददास का प्रेम मस्तिष्क की ओर से आता है, सूरदास का हृदय की ओर से। नन्ददास युक्ति और तर्क को शुरू में ही नहीं भूल जाते, सूरदास के यहाँ भूलने न भूलने का सवाल ही नहीं है। वहाँ युक्ति और तर्क है ही नहीं। नन्ददास की गोपियाँ प्रेम में बावरी हैं, तर्क में नहीं, उपालंभ करने में भी नहीं, परन्तु सूरदास की गोपियाँ सब तरह से भोरी हैं।

सूरदास की विशेषताएँ

सूरदास की विशेषताएँ क्या हैं। इस प्रसंग में एक बात यहीं कह रखना अच्छा होगा। पिछले प्रकरणों में यह कहने का अवसर ही नहीं मिला था कि सूरदास वैष्णव पद रचयिता की दृष्टि से समस्त उत्तर पश्चिम भारत के अगुआ हैं।

१--सूरदास ने जिस प्रकार के पद लिखे हैं वे हिन्दी जगत् में बहुत नवीन न होते हुए भी एक विशेष नवीनता रखते हैं। नाथ और सहज-पंथ के सिद्धांतों के पुराने पद उपलब्ध हुए हैं। श्री हर-प्रसाद शास्त्री प्रभृति बंगाली पंडितों ने इन पदों को पुरानी बंगला में लिखित बताया है। श्री राहुल सांकृत्यायन जी इन्हें मगही हिन्दी में लिखित बताते हैं। जो कुछ भी हो, ये पूर्व भारत से सम्बन्ध रखते हैं, इसमें सन्देह नहीं। इन पदों में संसार की अस्थिरता दिखाकर वैराग्य भावना पर जोर दिया गया है। हिन्दी के सन्त कवि कबीर और नानक आदि ने अपनी निर्गुण साधना के लिये इस प्रकार के पदों को अपनाया था। नानक जी के आदि ग्रन्थ में रामानन्द का भी एक पद संग्रहीत है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक पुराने भक्तों के पद भी उसमें आये हैं। परन्तु अब तक इस प्रकार के पदों का प्रयोग निर्गुण उपासक ही कर ते आ रहे थे।

सगुण लीला के वर्णनार्थ किस कवि ने किस प्रकार के पदों का प्रथम प्रयोग किया यह बात विवादास्पद है। अंग्रेज पंडित इस बात

का श्रेय मैथिल कवि विद्यापति को देते हैं। विद्यापति के ही सम-सामयिक कवि चण्डीदास ने भी इस प्रकार के पदों का व्यवहार किया है पर इसकी प्राचीनता और भी पुरानी सिद्ध होती है। संस्कृत कवि जयदेव के गीतगोविन्द के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का, कहना है कि वह उस युग के अपभ्रंश में लिखा गया था। पीछे से संस्कृत कर दिया गया। यह बात ठीक हो या नहीं इतना निश्चय है कि जय-देव से भी पूर्ववर्ती कवि उमापति ने वैष्णव लीलागान करते समय इस प्रकार के पदों का प्रयोग किया था। मेरा जहाँ तक जाना हुआ है उत्तर पश्चिम भारत में कृष्णलीला वर्णन करने के लिये सूरदास ने ही पहले पहल इनका प्रयोग किया। जो पद निर्गुण उपासना को वहन करते आ रहे थे उसे सगुण रस से सरस करना सूरदास का ही काम था।

२—सूरदास की दूसरी विशेषता है उनकी बाललीला का वर्णन। हिन्दी के कितने ही लब्धप्रतिष्ठित समालोचकों को सन्देह है कि संसार के किसी दूसरे कवि ने इस प्रकार की लीला का वर्णन किया है या नहीं। इन पंक्तियों का लेखक संसार की बात तो नहीं जानता। वह बहुत बड़ा है। पर इस बात में तो उसे भी सन्देह ही है कि भारतवर्ष-उत्तर भारतवष के किसी वैष्णव कवि ने इतनी सफलता से इस पूर्णता के साथ बाल लीला का चित्रण किया होगा।

३—परन्तु हम बाललीला से भी बढ़कर जो गुण सूरदास में पाते हैं वह है उनका मातृ-हृदय चित्रण। माता के कोमल हृदय में बैठने की अद्भुत शक्ति है इस अन्धे में।

४—और मातृ हृदय के चित्रण में सूरदास को जो सफलता मिली है वह उनकी प्रेम की विराट कल्पना के कारण है । सूरदास ने एक अलौकिक प्रेम की कल्पना की है जो मिलन में सोलह आना मिलन, और वियोग में सोलह आना वियोग के रूप में देखा जाता है । वह एक ही प्रेम यशोदा में एक रूप धारण कर गया है । राधिका में दूसरा, ग्वाल वालों में तीसरा, रुक्मिणी में चौथा और गोपियों में और और । यह प्रेम प्रकृति से भी मृदु है पर है सारवान्, वह काँचन पद्मधर्मी है । कालिदास के वाक्यों में 'ध्रुवं वपुः काँचनपद्मधारयन् मृदुप्रकृत्याच ससार मेवच' ।

५—यह बात पहले ही दिखाई गई है कि सूरदास वैष्णव आलंकारिकों के बन्धन में नहीं बंधे । वे भागवत के सोलह आना अनुयायी भी नहीं हुए । उनका अपना विशेष व्यक्तित्व सर्वत्र दिखायी देता है ।

६—वल्लभाचार्य के शिष्य होकर भी सूरदास अन्य भक्तों की नाईं बार बार गुरु का नाम ले लेकर जमुहाई नहीं लेते रहे । महाप्रभु वल्लभाचार्य ने उन्हें लीला गान करने का उपदेश दिया और उन्होंने सच्चे शिष्य की भांति इस उपदेश को आजीवन के लिये सिर माथे उठा लिया ।

कथा[1] है कि जब श्री सूरदास जी ने जान्यौ "कि भगवदिच्छा ते अवसान समै हैं" तो पारसोली गये । वहाँ यह जानकर कि 'उसी मारग कौ जिहाज जात है जाको जो लेनो होय सौ लेउ' भक्त गण

१चौरासी वैष्णों की वार्ता ।

उनके निकट एकत्र हुए 'तब चतुर्भुजदास ने कह्यो जो सूरदास जी ने बहुत भगवदजस वर्णन कीयौ पर श्री आचार्य जी महाप्रभू कौ जस-वर्णन नाहीं कीयौ। तब यह वचन सुनि कै सूरदास बोले जो मैं सब श्री आचार्य—महाप्रभू को ही जस वर्णन कीयौ है। कछू न्यारौ देखूँ तौ न्यारौ करूँ परि तेरे साथ कहत हो या भांति कहिकै सूरदास जू ने एक पद कह्यो। सो पद—

राग विहागरो

भरौसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग मांहि अंधेरौ।
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निबेरौ।
सूर कहा कहि दुविध आँधरौ बिना मोल को चेरौ॥'

सचमुच सूरदास ने कुछ भी गुरु के उपदेश से न्यारा करके नहीं देखा।

७—यह दिखाने के लिये पिछले प्रकरणों में कुछ प्रयत्न किया गया है कि सूरदास की दीनता आत्म-समर्पण, वैराग्य भावना और पापबोध के साथ ईसाई मरमी सन्तों की इन भावनाओं की तुलना असंगत है। दोनों दो चीज हैं।

८—सबसे बड़ी विशेषता सूरदास की यह है कि उन्होंने एक इतः पूर्व काव्य में अप्रयुक्त भाषा को इतना सुन्दर मधुर और आकर्षक बना दिया कि लगभग चार सौ वर्षों तक उत्तर पश्चिम भारत की

कविता का सारा रागविराग, प्रेम प्रतीति, भजनभाव उसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त हुआ।

९—अन्तिम विशेषता, जिसे सूरदास, कबीरदास, और तुलसीदास ने आत्मसात् किया है, अनोखी सी है। यह विशेषता है सामान्य होना। ये महात्मागण भारतीय जनता में ऐसे घुलमिल गये हैं जैसे कभी अलग व्यक्तित्व ही न रखते हों।



पं० नन्ददुलारे वाजपेयी

जन्म भाद्रपद संवत् १९६३ विक्रमी और निवास-स्थान मगराधर ज़िला उन्नाव (यू० पी०)। आजकल आप हिन्दू-विश्व-विद्यालय, काशी में अध्यापक हैं।

वाजपेयीजी ने हिन्दू-विश्व-विद्यालय काशी से हिन्दी में एम्० ए० पास किया और प्रयाग में दैनिक तथा साप्ताहिक 'भारत' के सम्पादक हो गये। इस पत्र में समय समय पर आपने हिन्दी-साहित्य पर जो समीक्षा पूर्ण निवन्ध लिखे, उनसे हिन्दी-जगत् में आपको प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अब तक आप समीक्षा, भूमिका तथा संकलन-सम्पादन के रूप में दस-बारह ग्रन्थ लिख चुके हैं। इनमें 'जयशंकर प्रसाद' (प्रसाद जी पर समीक्षा) 'हिन्दी साहित्य और बीसवीं शताब्दी' (अप्रकाशित) तथा 'साहित्य एक अनुशीलन (अप्रकाशित)' तो बड़ी ही महत्त्वपूर्ण हैं।

वाजपेयीजी एक तत्व-निष्ठ समालोचक हैं। उनकी समालोचना शैली हिन्दी के लिए सर्वथा मौलिक देन है। रचनाकारों की अन्त:प्रेरणा और वाह्य स्थितियों की विवेचना करने में आपने वास्तव में बड़ी सफलता पाई है। वाजपेयी जी में इनके अतिरिक्त और भी एक विशेष गुण है। वह यह कि वे युग के साथ-साथ चलते हैं। वाजपेयीजी में युग-परिवर्तनकारी भाव-वृत्तियों और साहित्य पर उसके प्रभावों

को निकट से देखने की अनोखी सुरुचि है। अस्तु, यदि लोग आशा करें कि वाजपेयीजी हिन्दी समालोचकों के क्षेत्र में उसी शीर्ष स्थान के अधिकारी हो सकेंगे, जिस पर आचार्य्य शुक्ल जी स्थित थे, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

'यामा' का दार्शनिक आधार

'यामा' श्रीमती महादेवी वर्मा का संपूर्ण काव्य संग्रह है। इसके चार यामों में उनकी चारों स्फुट रचना पुस्तकें संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त महादेवी जी की कोई अन्य रचना शायद प्रकाश में नही आई है। यहाँ मेरा मतलब केवल उनकी काव्य रचनाओं ही से है। ये सब की सब मुक्तक पद्य और गीतरूप में है, जिनकी संख्या दो सौ से कुछ कम है। साथ ही 'यामा' में महादेवी जी की लिखी हुई भूमिकाएँ और उनके बनाए कितने ही चित्र हैं जिनसे उनके काव्य पर आवश्यक प्रकाश पड़ता है।

अच्छा होता यदि हम बिना किसी भूमिका के 'यामा' का अध्ययन (यहाँ अध्ययन से मेरा मतलब उसकी विशेषताओं के पर्यवेक्षण से है) आरंभ कर सकते, किन्तु ऐसा करने में दो मुख्य कठिनाइयां दीखती हैं। एक तो 'यामा' केवल एक संग्रह पुस्तक ही नहीं है। वह महादेवी जी का पूरा काव्य व्यक्तित्व ही है। इस व्यक्तित्व को हम नवीन काव्यधारा से एकदम अलग रख कर नहीं देख सकते। साम्य और वैषम्य के वे सूत्र हमें संक्षेप में देखने होंगे जिनके द्वारा महादेवी जी सामयिक काव्य जगत से बँधी हुई हैं। उनके लिए एक छोटीसी, उपयुक्त सेटिंग हमें तैयार करनी होगी।

दूसरी कठिनाई दूसरे ढंग की है। इन दिनों वादों का प्रवाह हमारी हिन्दी में जोरों से आया हुआ है। जान पड़ता है हमारी

मानसिक सूर्य किरणें खूब क्रियाशील हो रही हैं। यह शुभ लक्षण है क्योंकि इससे साहित्य जगत की उर्वरता बढ़ने की ही संभावना है किन्तु यह वादों की बाढ़, मजबूत बांधों में बांधकर, उपयुक्त प्रणालियों से नहीं बहाई जाती तो हमारा अनिष्ट भी कर सकती है। विशेष कर कविता की फस्ल जो अधिक आंधी और पानी सहन नहीं करती, कोमल प्रकृति की और कीमती होती है—वह तो इस बाढ़ में चौपट ही हो सकती है। 'यामा' की और विशेष कर महादेवीजी के काव्य की विवेचना करते हुए कई बार वादों का ऐसा अनुचित प्रयोग किया गया है जिसे देखकर हमें पहले से ही सतर्क हो जाना पड़ता है। काव्य में और काव्य विवेचना में किसी भी वाद का क्या स्थान है इसे बिना स्पष्ट किये हम 'यामा' के साथ आगे नहीं बढ़ सकेंगे।

हिन्दी में महादेवीजी का प्रवेश छायावाद के पूर्ण ऐश्वर्यकाल में हुआ था, किन्तु आरम्भ से ही उनकी रचनाएँ छायावाद की मुख्य विशेषताओं से प्रायः एकदम रिक्त थीं। मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या होनी चाहिए। इस व्याख्या में आए 'सूक्ष्म' और 'व्यक्त' इन अर्थ गर्भ शब्दों को हम अच्छी तरह समझ लें। यदि वह सौंदर्य सूक्ष्म नहीं है, साकार हो कर स्वतन्त्र क्रियाशील है और किसी कथा या आख्यायिका का विषय बन गया है तो हम उसे छायावाद के अन्तर्गत नहीं ले सकेंगे। छायावाद के इस सीमांत पर हम स्काट और बाइरन जैसे अंग्रेज़ी के कवियों को पाते हैं

जिन्होंने विमोहक और तल्लीनताकारी नारी सौंदर्य की लम्बी कथाओं के सूत्र में ताना है, और प्रकृति की अनिर्वचनीय सुषमा को पृष्ठभूमि बना कर चित्रित किया है। वे प्रकृत छायावादी नहीं कहे जा सकते। और छायावाद के दूसरे सीमांत पर हम वर्ड्सवर्थ को देखते हैं जिसकी प्रकृति के प्रति इतनी सार्वत्रिक प्रीति है कि वह व्यक्त सौंदर्य के प्रति निस्पंद, वेपहचान, निगूढ़ सी मालूम होती है, सब कुछ तो सुन्दर ही है ऐसी भावमयता में मग्न सी हो गई हैं। वह भी प्रकृति छायावादी नहीं है। प्रकृत छायावादी तो अंग्रेज़ी प्राकृतिक सूक्ष्म सौंदर्य भावना का एकमात्र अधिष्ठाता शेली ही हुआ है जो एक ओर कुछ समीक्षकों द्वारा (जो सूक्ष्म के विरोधी हैं) हवाई और आसमानी बताया गया है किन्तु दूसरी ओर जिसे नास्तिक (अव्यक्त सत्ता का विरोधी) कहे जाने का श्रेय भी प्राप्त है। आशा है छायावाद की इस मध्यवर्तिनी भूमि पर पाठक की दृष्टि गई होगी।

मुझे आशा नहीं है कि छायावाद की मेरी यह व्याख्या निकट भविष्य में सर्वमान्य हो सकेगी, किन्तु इसकी दार्शनिक और काव्यात्मक शैली इतना सुस्पष्ट व्यक्तित्व रखती है और यह अन्य निकटवर्ती वादों से इतना पृथक अस्तित्व बनाए हुए है कि कोई कारण नहीं कि यह आखिरकार एक अलग वाद के रुप में स्वीकार न कर लिया जाय। संप्रति हिन्दी के अधिकांश समीक्षक छायावाद और रहस्यवाद के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं कर रहे हैं। नवीन काव्य-युगके निर्माता स्वर्गीय 'प्रसाद' जी का इस विषय का विवरण विशेष ध्यान देने योग्य है। वर्तमान रहस्यवाद के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"विश्व सुन्दरी

प्रकृति में चेतनता का आरोप्य संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौंदर्य लहरी के 'शरीरं त्वं शम्भो' का अनुकरण मात्र है। वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौंदर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौंदर्य द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।''

अब, विश्व सुन्दरी प्रकृति में चेतनता की भावना सार्वत्रिक भी हो सकती है और एक-एक सुन्दर वस्तुगत भी हो सकती है। शम्भु अथवा आत्मा का शरीर सारा सृष्टि प्रसार ही है। इस दृष्टि से व्यक्त वस्तुमात्र में सौंदर्य की एक ही धारा प्रवाहित है। प्रकृति में कुछ भी असुन्दर नहीं, यहाँ व्यष्टिभेद नहीं है। पुनः प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा अहं 'आत्मा का इदम् (प्रकृति) से समन्वय करने का प्रयत्न व्यष्टि सौंदर्य को स्वीकार करता है। इस प्रकार 'प्रसाद' जी ने व्यष्टि सौंदर्य-दृष्टि (छायावाद) और समष्टि-सौंदर्य-दृष्टि (रहस्यवाद) में कोई स्पष्ट अंतर नहीं किया। किन्तु मैं इस अन्तर का विशेष रूप से आग्रह करता हूँ क्योंकि इसने दो विशेष पृथक पृथक काव्य शैलियों की सृष्टि की है। व्यष्टि सौंदर्य बोध एक सार्वजनीन अनुभूति है। यह सहज ही हृदय स्पर्शी है, यह सक्रिय और स्वावलम्बिनी काव्य चेतना की जन्मदातृ है। इसे मैं प्राकृतिक अध्यात्म कह सकता हूँ। समष्टि सौंदर्य बोध उच्चतर अनुभूति है। फिर भी प्रत्येक क्षण रूढ़ि बद्ध होने की सम्भावना रखती है। इसमें इन्द्रियानुभूति की सहज

प्रगति या विकास के लिये स्थान नहीं है। यह कदम कदम पर धर्म के कटघरे में बन्द होने की अभिरुचि रखती है।

काव्य में यह रहस्यवाद बड़े-बड़े दुर्दिन देख चुका है। अपने अति प्राकृत स्वरूप के कारण पहले तो इस की अभिव्यक्ति ही अतिशय दुर्गम और दुसह है, किन्तु कुछ सच्चे रहस्यवादियों ने कुछ अनोखे रास्ते निकाले भी तो उन पर चलने वाले बहुत से झूठे रहस्यवादी नक़ल नवीस निकल आए। उन्होंने काव्य की पूरी-पूरी अधोगति कर डाली। सारी प्रकृति को समाहित करने वाली निर्गुण प्रेम की विशुद्ध व्यंजना विषय वासना का नंगा नाच बन रह गई। उपनिषदों का ऊर्जस्वित आत्मवाद संपूर्ण कर्त्तव्यों से हाथ समेटने का बहाना सिद्ध हुआ। योग और तन्त्र शास्त्रों की प्रकृति को आत्मा में लय करने की सारी प्रक्रिया जो पूर्ण मनुष्यत्व की साधन थी अनहोनी सिद्धियों और तामसिक उपचारों का दूसरा नाम बन गई। शारीरिक, मानसिक नैतिक और आत्मिक सबलताका प्रचारक रहस्यवाद 'ना घर मेरा ना घर तेरा चिड़िया रैन बसेरा' गाकर भीख माँगनेवालों का ब्रह्मास्त्र बन गया। एक ओर तो यह नक़ली रहस्यवाद की प्रगति हुई और दूसरी ओर रूढ़िबद्ध होकर रहस्यकाव्य विनय के पदों, भक्तिगीतों, धार्मिक आख्यानों आदि में परिणत हो गया। अवश्य ही ईरान और फ़ारस के कुछ सूफ़ी कवियों और भारत के कुछ वैष्णवों ने रहस्य काव्य की वास्तविक मर्यादा स्थिर रखी किन्तु उनकी संख्या उँगलियों पर गिने जाने के योग्य है। यह इतनी भी है यह कम गौरव की बात नहीं

क्योंकि हम कह चुके हैं रहस्यानुभूति एक अति विरल वस्तु है और उसकी काव्य प्रक्रिया अतिशय दुसह और दुःसाध्य है।

रहस्य काव्य की मुख्य परम्पराओं में हम नीचे लिखे भेदों की परिगणना कर सकते हैं। यदि हम प्रकृति की ओर से आत्मसत्ता की ओर आगे बढ़ें तो इस गणना का क्रम इस प्रकार होगा—विश्व-सुन्दरी प्रकृति में चेतनता का आरोप, यह पहली सीढ़ी है। इसी के अन्तर्गत सुख और दुःख का सामंजस्य जिसे प्रसाद जी ने सरसता कहा है, आ जाता है। यही प्रसाद जी की 'अपरोक्ष अनुभूति' भी है। महादेवी जी ने इसे छायावाद की सीमा में मान कर एक दूसरे ढङ्ग से कहा है – 'छायावाद की प्रकृति छटा कूप आदि में भरे जल की एक रूपता के अनेक रूपों में प्रकट एक महा प्राण बन गई अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस विन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। वास्तव में यह रहस्यवाद का पहला और व्यापक उपक्रम है जिसमें भावना-बल से 'एकोऽहं बहुस्याम' के 'बहुस्याम' को एकोऽहं की ओर प्रतिवर्तित करते हैं। सांसारिक सुख दुःख, राग विराग जितने भी द्वंद्व हैं, सबको एक ही चेतन से संबद्ध करने की यह प्रणाली रहस्यवाद के प्रथम सोपान पर मिलती है। इस सोपान पर हम महादेवीजी को नहीं पाते। यद्यपि अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के विकास के सिलसिले में उन्होंने लिखा है कि 'पहले बाहर खिलने वाले फूल को देखकर रोम-रोम में ऐसा पुलक दौड़ जाता था मानों वह मेरे हृदय में ही खिला हो, परन्तु उसके आने से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव में एक अव्यक्त वेदना भी थी, फिर यह सुख-दुःख

मिश्रित अनुभूति हो चिन्तन का विषय बनने लगी, और अन्त में अब मेरे मन ने न जाने कैसे उस भीतर-बाहर में एक एक सामंजस्य-सा ढूँढ़ लिया है, जिसने सुख-दुःख को इस प्रकार बुन दिया कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है, किन्तु महादेवी जी के काव्य में प्राकृतिक सुख-दुःख का अथवा उसके सामंजस्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता। प्रकृति के किसी भी दृश्य या मानव मनोभाव का आकलन उनकी रचनाओं में नहीं के बराबर है। दृश्य प्रकृति में हिमालय पर ही उनकी एक रचना 'यामा' में देखने को मिली किन्तु वहाँ भी अंतरमुख भावना ही उभर पाई है। प्रकृति के रूपों, दृश्यों और भावों को महादेवी जी ने चेतना का प्रेरक न रखकर उन सब को एक एक चेतन व्यक्तित्व सा दे दिया है। उनकी पहली ही रचना में 'निशा को धो देता राकेश, चाँदनी में जब अलकें खोल, कली से कहता था मधुमास, बता दो मधु मदिरा का मोल!' यद्यपि व्यक्त सौंदर्य की भी झलक लिये हुये है किन्तु वहाँ वह गौण है और महादेवी जी की रचनाओं में उत्तरोत्तर गौण होता गया है। आगे चलकर सारी प्रगति और उसके समस्त उपकरण एक निखिल वेदना की अनेक रूप अभिव्यक्ति के लिये भाँति भाँति की दौड़ लगाते हैं। जिसे हम इसी निबंध में देखेंगे। प्रकृति की परिपूर्ण छवि की आत्मरूप प्रतिष्ठा हमें वर्डसवर्थ में ही मिलती है। कुछ लोग हिन्दी में गुरुभक्त सिंह को वर्डसवर्थ का स्थानापन्न मानते हैं, किन्तु प्रकृति की आध्यात्मिकता की अनुभूति गुरुभक्त सिंह में हमें विशेष नहीं मिलती। एक-एक डाली, एक-एक लता, एक-एक पत्ती अथवा उद्भिज्ज को

चेतन क्रियाशील उल्लेख कर देने से ही उनकी आध्यात्मिकता प्रकाश में नहीं आती। यह चेतन व्यक्तित्व देने (या पर्सानिफ़ाई करने) की प्रकृति ही ह्रासोन्मुख होकर 'चिड़िया का विवाह' नामक ग्रामीण गीत में परिणत हो गई है जिसमें सब चिड़ियों को 'विवाह-सम्बन्धी' एक-एक काम सिपुर्द किया गया है। समरसता (सुख-दुःख का समीकरण) और आध्यात्मिक अनुभूति का हिन्दी में सब से सुन्दर उदाहरण प्रसाद जी का 'आँसू' काव्य है।

रहस्यवाद के इस सोपान से ऊपर उठने पर हम प्राकृत या अपरोक्ष अनुभूति को छोड़ कर परोक्ष अनुभूति के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। महादेवी जी के काव्य की यही भूमि है। परोक्ष अनुभूति के भी कितने ही भेदोपभेद हैं जिन्हें दार्शनिक दृष्टि में तीन मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है। सगुण साकार सगुण निराकार और निर्गुण निराकार। एक दिव्य व्यक्तित्व पर, वह प्रेममय हो, करुणामय हो, अथवा शक्तिमय या आनन्दमय, आस्था रखने वाले सगुण साकार के अनुयायी होते हैं। महादेवीजी की अधिकांश रचना का यही दार्शनिक आधार दीखता है। वे लिखती भी हैं—'मानवीय संबधों में जब तक अनुराग जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते। और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस (प्राकृतिक) अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तितत्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म निवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे

रहस्यमय रूप के कारण रहस्यवाद का नाम दिया गया, मधुरतम व्यक्तित्व की यह वियोजना महादेवी जी के काव्य में मौजूद है किन्तु उसके निकट आत्मनिवेदन करने वाले बहुत से भक्त कवि हो गये हैं जिनका धार्मिक दृष्टि से पर्याप्त आदर है किन्तु जिन्हें रहस्यवाद का स्रष्टा नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट है कि महादेवी जी ने इस वक्तव्य में आवश्यक सतर्कता से काम नहीं लिया। यही नहीं, उन्होंने रुढ़िवद्ध धार्मिक काव्य और वास्तविक रहस्य काव्य का स्पष्ट अंतर सदैव अपने सामने नहीं रक्खा है। जिससे उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर प्रकृत कविता की जगह रुढ़ि के चिन्ह मिलते हैं।

सगुण साकार दार्शनिकता का सब से बड़ा खतरा यही है कि वह निःसीम सौन्दर्य सत्ता का रहस्य खोकर सीमा रेखाओं में आ जाता और वास्तविक परोक्ष अनुभूति-संपन्न काव्य का विषय न रहकर, धर्म और उपासना का आधार बन जाता है। सगुण दार्शनिकों और कवियों ने इस कठिनाई को खूब अच्छी तरह समझा था। इसीलिये उन्होंने बचत के कई उपाय निकाले थे। प्रथम, इन्होंने उस मधुरतम व्यक्तित्व को अलौकिक सत्ता-संपन्न अंकित करने की चेष्टा की। इसके लिये दार्शनिकों को दिव्य सत्ता संबंधी एक नई दार्शनिक प्रक्रिया ही चलानी पड़ी जिसमें उस दिव्य व्यक्तित्व के सभी उपकरणों, उसके नाम, रूप, लीला, और धाम को तथा उससे संपर्कित वस्तु, व्यापार को बार-बार अप्राकृत घोषित करना पड़ा। किन्तु काव्य अथवा कलाओं का काम केवल घोषणा से नहीं चलता। उन्हें ऐसी प्रतीक

योजना का सहारा लेना पड़ा जिससे वस्तुतः अलौकिक का आभास मिल सके। कवियों को उस मधुरतम चरित्र के निर्माण में दिव्य सौन्दर्य सृष्टि की अशेष कला समाप्त कर देने पर भी सीमा के अंदर संतोष नहीं हुआ। उन्हें पद-पद पर उस व्यक्तित्व की महिमा का अलग से निर्देश करते रहना पड़ा जिस पद्धति को हम 'श्री मद्भागवत' और 'रामचरितमानस' में भी देखते हैं। फिर भी ससीमता और असीमता, साकारता और रहस्य में जो मौलिक अंतर है उसकी पूर्ति नहीं हुई। फलतः सीताराम और राधा-कृष्ण की पूर्ण परोक्ष अनुभूति काव्य के अन्दर नहीं हो सकी। तब रामायत कवियों ने रहस्य का पल्ला छोड़कर चरित्र की व्यक्त महत्ता के आग्रह द्वारा महाकाव्य की सृष्टि कर डाली और कृष्णायत कवियों ने प्रेम और सौन्दर्य की अशेष तरंगिणी बहाकर राधाकृष्ण की जो चरितावली निर्माण की वह रोमांचक भावों से भर गई। किन्तु रहस्यवाद के निकट होते हुए भी वह रहस्य काव्य नहीं कहा जा सकता। अवश्य इस चरित्र के दो प्रधान प्रसंगों—रास और भ्रमरगीत में हम रहस्य-काव्य के सारे लक्षण पाते हैं। रहस्य के क्षेत्र में वैष्णव कवियों की वास्तविक सफलता इन्हीं दो प्रसंगों को लेकर है।

जब उस मधुरतम व्यक्तित्व के प्रति आत्म निवेदन का क्रम आरम्भ हुआ तब तो काव्य स्पष्टतः धार्मिक घेरे में आ गया। यहाँ मेरा मतलब उन विनय गीतों से है जिनका कृष्ण काव्य में भी प्राचुर्य है और जिनसे तुलसीदास जी की 'विनय पत्रिका' भरी हुई है। इस प्रकार के काव्य में प्रकृत रहस्यात्मक अनुभूतियों को टोह

लगाना व्यर्थ श्रम है। मूर्त प्रतीको में अलौकिक अमूर्ततत्त्व का साक्षात्-कार करानेवाली समुन्नत रहस्य कला उसमें हम नहीं पाते। यदि इसमें पर्याप्त काव्य भावना का विकास होता तो उन्हें रहस्यकाव्य कहना हमने कभी का छोड़ दिया होता। धार्मिक काव्य की दृष्टि से उनका आदर सदैव रहेगा, किन्तु प्रकृत काव्य की दृष्टि से नहीं।

मेरा यह आशय नहीं है कि महादेवीजी ने 'मधुरतम व्यक्तित्व की सृष्टि करके रहस्य की इतिश्री कर दी है और न मैं यह कह रहा हूँ कि उसके प्रति उनका आत्मनिवेदन भी धार्मिक कवियों के ही ढंग का है। प्रचुर कल्पनागुण के कारण महादेवी जी ने रहस्यात्मकता कभी खोई नहीं किन्तु उनकी रचनाओं में भक्तों और निर्गुणियों की रूढ़ि भी कम नहीं मिलती। इसे हम आगे चल कर देखेंगे। इसका मुख्य कारण मधुरतम व्यक्तित्व की नियोजना और आत्मनिवेदन की परंपरागत प्रेरणा ही है किन्तु महादेवी जी के पास फिर लौटने के पहले हम रहस्यवाद की शेष दोनों श्रेणियों को भी थोड़े में देख लें।

सगुण निराकार शैली सूफियों की है। सच पूछिये तो परोक्ष रहस्य काव्य का सच्चा स्वरूप हमें इन्हीं से मिलता है। प्राकृतिक प्रेम-प्रतीकों के भीतर परोक्ष प्रेम सत्ता का इतना प्रगाढ़ धारावद्ध प्रवेश और पुनः पुनः उस अव्यक्त का नैसर्गिक आवाहन और आलेख हम अन्यत्र कहाँ पाते हैं? अवश्य, जहाँ यह प्रेम कथानक का रूप धारण करता है, वहाँ वही कठिनाई सूफ़ियों के सामने भी आती है जो वैष्णव साकारोंपासकों के सामने आई है। वहाँ सूफ़ियों ने कथा को वेदा-

न्तिक दृष्टि से रूपक मात्र घोषित किया है। किन्तु इससे समस्या सुलझ नहीं पाई। फलतः सूफ़ी आख्यानक काव्यों में रूपक की चिंता न कर, सारी वर्णना के भीतर अति मोहक प्राकृतिक सौंदर्य तल्लीनता, प्रेम के प्रति परिपूर्ण आत्म विसर्जन और फिर भी उसकी दुष्प्राप्ति का संकट दिखाकर अव्यक्त प्रेम रहस्य को इंगित किया गया है। इन कथानकों को रहस्य काव्य कहने में फिर भी संकोच रह ही जाता है। यह स्पष्ट ही इसलिये कि कथा के सूत्र साद्यन्त रहस्य की रक्षा नहीं कर सकते और यदि उन्हें रूपक मान लें तो सहज काव्य सौन्दर्य की हानि हो जाती है। इसीलिये कथानकों वाले जायसी आदि कवियों को रूपक के स्वरूप की चिंता न कर सारे काव्य को, चाहे वह माया रूपिणी नागमती अथवा विद्यारूपिणी पद्मावती का प्रसंग हो। आत्म विसर्जनकारी अलौकिक प्रेम पीर से आलुप्त कर देना पड़ा है। फिर भी कथा का चक्र स्थान स्थान पर बाधक बन ही गया है।

कुछ समीक्षक इसी निराकार प्रेम व्यंजना के भीतर, ब्रजमें विहरण करने वाली, गिरधर मूर्ति की उपासिका, चिरंतन प्रेम और चिर-विरहमयी मीरा के काव्य को भी शुमार करते हैं किन्तु ऐसा करने का हमें कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं दीखता। जिन्होंने सूरदास जी के 'गोपी-विलाप' और 'भ्रमर गीत' का अध्ययन किया है उन्हें मीरा के किसी निराकार कृष्ण की उपासिका बना देने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होगी। अवश्य मीरा एक नारी थीं। और गिरधर के प्रति उनका प्रियतम भाव था किन्तु ऐसा ही भाव गोपियों का भी था जो निराकार की उपासिका नहीं थीं। स्वप्न में प्रियतम के दर्शन आदि

के उल्लेख गोपियों के विरह में भी मिलते हैं और मीरा में भी। महादेवीजी और मीरा दार्शनिक दृष्टि से एक ही परम्परा की अनुयायिनी प्रतीत होती हैं।

निर्गुण निराकार ही आध्यात्मिक दार्शनिकता की चरम कोटि है। एक अखंड, अव्यय चेतनतत्व जिसमें त्रिकाल में भी कोई भेद किसी प्रकार संभव नहीं; जिस चिरस्थिर आत्मतत्व के अविचल गौरव में संसार की उच्चतम अनुभूतियाँ भी मरीचिका सी प्रतीत होती हैं, वह परिपूर्ण आह्लाद जिसमें स्मृति तरंगों के लिये कोई अवकाश नहीं; रहस्यवाद का सर्वोच्च निरूप्य है, इसके ओजस्वी निरूपण उपनिषदों के जैसे और कहीं नहीं मिलते। आगे चलकर इसकी महामहिमा का क्षय होने लगा, इसमें विरह के कमजोर अङ्ग जुड़ने लगे और क्रमशः यह वैराग्य-मूलक करुण साधनाओं का अधिष्ठान बना दिया गया। काव्य में जब तक इसका केवल सांकेतिक स्वरूप रहा तब तक यह अधिक विकृत नहीं हुआ था (उदाहरणार्थ आरम्भिक बौद्ध साहित्य में) किन्तु जब इसमें साम्प्रदायिक शब्दावली प्रवेश करने लगी और ईड़ा पिङ्गला आदि की चर्चा बढ़ गई तब काव्य दृष्टि से इसका ह्रास होने लगा। कबीर की चमत्कार पूर्ण प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि के फल-स्वरूप एकबार फिर यह अक्षरतत्व प्रकाश में आया किन्तु इस बार यह उतना ओजस्वी और महिमा मय नहीं था। कारण इसबार प्रतिस्पर्धिनी माया भी दलबल सहित उपस्थित थी। कबीर से आगे बढ़ने पर माया रानी की छाया भी काव्य में जोर पकड़ने लगी और क्रमशः अक्षर की सत्ता असंख्याक्षरों की अन्तिम सीमा पर जा पहुंची। जहाँ आरम्भ में भेदों

की अस्वीकृति इष्ट थी वहाँ अन्त में भेदों का प्राबल्य ही प्रमुख बन गया। ऐसी अवस्था में निश्चल अध्यात्म सत्ता अपने पूर्व गौरव में कैसे स्थिर रहती।

यहाँ मेरी पहिली मंजिल समाप्त होती है। ऊपर मैंने महादेवी जी के काव्य की दार्शनिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए आध्यात्मिक वादों का खाका कुछ विस्तार के साथ इसलिये खींचा है कि उससे हमारी वह दूसरी कठिनाई भी सुलझ जाय जिसका ज़िक्र मैंने इस निबन्ध के आरम्भ में किया है। वह है काव्य विवेचन में वादों सम्बन्धी कठिनाई ।वाद वास्तव में जीवन-सम्बन्धिनी धारणाओं और प्रवृत्तियों के बौद्धिक निरूपण है। प्रत्येक वाद की एक सीमा रेखा होती है, यद्यपि उस विशेष वाद के अन्तर्गत समय समय पर ऐसी जीवन दृष्टियाँ भी संघटित हो सकती हैं जिनसे उसकी उन्नति अथवा ह्रास के संयोग इकट्ठे हो जाँय और किसी भी वाद की कुछ शक्तिमत्ता और कुछ दुर्बलता होगी ही क्योंकि प्रत्येकवाद अपनी सीमारेखा में बद्ध है। प्रत्येकवाद में ये शक्तिमत्ता और दुर्बलता के परमाणु समय समय पर घट बढ़ सकते हैं । किसी भी वाद के साथ न्याय करने के लिये उसकी पारिभाषिक शब्दावली का उसके अभिप्रेत अर्थ में और उस युग की ऐसिहासिक प्रगति को ध्यान में रखकर अध्ययन करना अत्यावश्यक है। यही बात किसी विशेष वाद की उन्नति या ह्रास के लक्षणों को जानने के लिये भी आवश्यक है। अर्थात् इसके लिये भी हमें उस वाद की बदलती हुई परिभाषाओं, शब्दावलियों और उनके अर्थ संकेतों को अच्छी तरह समझना होगा ।

सारे आध्यात्मिक वादों जिनमें छायावाद और रहस्यवाद के सब वाद सम्मिलित हैं जिनका मैंने ऊपर उल्लेख किया की दिशा वैविध्य में एकता की खोज प्राकृतिक और मानसिक मलिनताओं का प्रक्षालन, नैतिकबल और अडिग मन स्थिति की सृष्टि करने की है। इन्हें सार्वजनीन लक्ष्य कहा जा सकता है, इनमें देश काल और व्यक्त द्रव्य के भेदोपभेदों की विशेष मीमांसा नहीं है, आप पूछ सकते हैं कि इस वाद से हमें क्या लाभ जो यह हम में विद्रोह के भाव राष्ट्रीयता के विचार नहीं उत्पन्न करता। इसका सीधा उत्तर यह है कि यह किसी विद्रोह का समर्थन या विरोध नहीं करता किन्तु मन को सुदृढ़ और निर्णयात्मक अवस्था पर ला देता है। छायावाद के अन्तर्गत राष्ट्रीय काव्य भी है। यद्यपि वह कल्पना और सौंदर्य प्रधान अधिक है छायावाद में हमें सामयिक सामाजिक चित्रण और एक उदार जनसत्तात्मक भावधारा के भी अंश मिलते हैं, इसलिये हम उसे अराष्ट्रीय भी नहीं कह सकते। किन्तु आध्यात्मिक काव्य का मुख्य विषय यह नहीं है यह स्वीकार करने में हमें कोई विशेष आपत्ति नहीं हो सकती। साथ ही हम यह नहीं भूलेंगे कि वाद से भिन्न काव्य सौंदर्य एक अलग वस्तु है और उसका मूल्य उस सौंदर्य में ही है।

यहीं अध्यात्मवाद को हमारे उन मित्रों के आक्रमणों का सामना करना पड़ता है जो "साइकोसिस और न्यूरोसिस" की भाषा में बातें करते हैं। उनके मत में अध्यात्म मूलतः प्रतिक्रियात्मक वस्तु है और वह श्रमजीवी सभ्यता के निर्माण और विकास में बाधास्वरूप है। यह

क्रान्ति को पीछे ढकेल रहा और सत्ताधारियों अथवा मध्यवर्गों का सहायक बन रहा है। इन मित्रों को हम सलाह देंगे कि वे इतिहास की पृष्टिभूमि पर छायावाद और रहस्यवाद का अध्ययन करें तो उन्हें मालूम होगा वे वाद राष्ट्रीय विकास के अतिस्वाभाविक कड़ियां हैं और उनका कलात्मक मूल्य भी कुछ कम नहीं है।

और इनके स्थान पर हमें जो आज मिल रहा है वह क्या है ? अब तक उसकी साहित्यक महत्ता यथेष्ठ प्रकाश में नहीं आई ! नई प्रगति पहले तो अपना स्वरूप ही निर्धारित नहीं कर सकी है जिसके फल स्वरूप नए उगते सभी लेखक अपने को प्रगतिवादी कहने लगे हैं। उनके भाव कितने पिष्टपेषित, उनकी व्यंजना कितनी ही शिथिल, और उनकी कलाधारणा कितनी ही विकसित क्यों न हो, वे नये हैं इसीलिये प्रगति के नेता हैं, हिन्दी में फैली हुई अराजकता उन्हें नेतागिरी का अवसर भी दे देती है। कई बार ऐसा देखा जाता है कि भाषा का बेसिलसिलापन और बिना खराद की भोंड़ी शैली ही प्रगति का प्रमाण बन जाती है । कला संबंधी अंगों प्रत्यगों की बिना जांच किये और भावधारा की प्रांजलता तथा अभिव्यक्ति की नवीनता और प्रौढ़ता का बिना ध्यान रक्खे, प्रसाद से लेकर महादेवी तक की रचनाओं में चरित्र चित्रण, कथा निर्माण, विचार विकास, अथवा किसी अन्य बौद्धिक सूत्र को ढूंढ़ना कुछ नये क्षेत्रों में अपराध माना जाता है। यह सारा भावना मूलक साहित्य रहस्यवाद या अफ़ीम का नशा है, इसमें काव्य के उच्च अङ्गों के लिये स्थान ही कहां है। अकसर ऐसी बेतुकी बातें भी सुनने को मिल जाती हैं। एक

और जहाँ हम भावना का विरोध करते हैं दूसरी ओर क्षीण उत्तेजना और भावोन्माद को प्रगति के नाम पर प्रश्रय दे रहे हैं। किन्तु वास्तविक प्रगति के लिये केवल इतना ही आवश्यक नहीं कि काव्य वस्तु नए समय की हो और नई उपमाओं का संग्रह किया जाय वल्कि अभिव्यक्ति की शैली का आधार और अन्तर्निहित विचारप्रवाह नवीन और साथ ही उस शैली का सारा उपक्रम भी पुष्टतर और प्रौढ़तर होना चाहिये। हमारे अति नवीन साहित्य के मूल में वस्तुवाद की दार्शनिक प्रेरणा काम कर रही है किन्तु वास्तविक साहित्य-निर्माण में हम प्रायः छायावाद की उच्चकला का ह्रासोन्मुख स्वरूप, नई किन्तु दुर्बलतर भावना, उन्माद अथवा शुष्क बौद्धिक प्रकरण ही मुख्यतः पाते हैं। नए भावलोक और नई कलाशैली के निर्माण में जो ऊँची रचनात्मक प्रतिभा अपेक्षित है अभी उसकी क्षीण आभामात्र दिखाई दे रही है। इसके विपरीत, रहस्यात्मक काव्य-शैली संप्रति अपने चरम विकास पर पहुंची हुई है। इसलिए केवल नवीनता के नाम पर इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

रहस्यवाद पर 'न्यूरोटिक टेन्डेन्सीज़' का आरोप अब भी शेष है। इस सम्बन्ध में हम पूछना चाहते हैं कि 'अहं ब्रह्मास्मि' के महामनस्वी भाव से भरी हुई उपनिषद् ऋचाएँ क्या स्नायविक दौर्बल्य की उदाहरण है? स्वतन्त्र भारत की अमर और जगत्पूज्य रचना गीता और उसकी स्थित प्रज्ञ की कल्पना क्या दुर्बल भाव की द्योतक है? आज यह देश परतन्त्र है, आज स्नायविक दौर्बल्य यहाँ घर कर सकता है। किन्तु उस समय जब ऐसी कोई लाचारी न थी गीता में

ऐसी कल्पनाएँ क्यों की गई और उनका इतना सम्मान आज विदेश में किस लिये है। किन्तु इस संम्बन्ध में मैं अधिक कुछ न कहूँगा क्योंकि श्री अरविन्द जैसे मुझसे योग्यतर व्यक्ति, अभी हाल में इसका यथेष्ट निराकरण कर चुके हैं।

यह पूछा जा सकता है कि इस प्रकार रहस्यवाद की हिमायत मैं क्यों कर रहा हूँ। वास्तव में मैंने किसी वाद की वकालत करने का बीड़ा नहीं उठाया, मेरा प्रयोजन तो काव्या-लोचन में आने वाले वादों के सम्बन्ध की ग़लतफहमी को दूर कर देना मात्र है। एक ओर जहाँ मैंने ऊपर की बातें कही हैं वहीं दूसरी ओर यह भी कहूँगा कि बहुत से लोग रहस्यवाद के नाम पर ही इतनी श्रद्धा रखते हैं कि रहस्यवादी कविता को आपही आप कविता का सिरमौर समझ लेते हैं। रहस्य-वाद के अन्तर्गत कोई कविता किस कोटि की है यह जानने की आव-श्यकता ही नहीं होती। ऐसे लोगों की अंध श्रद्धा भी काव्य विवेचन में बड़ी बाधक है। वास्तव में यह दूसरी अति है। यहीं स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्य विवेचन में किसी वाद का क्या स्थान हो?

काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौंदर्यमय चित्रण है जो मनुष्यमात्र में स्वभावतः अनुरूप भावो-च्छ्वास और सौंदर्य संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौंदर्य संवेदन को भारतीय परिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं, यद्यपि मैं यह स्वीकार करूंगा कि रस का हमारे यहाँ दुरुपयोग भी कम नहीं किया

गया। ऊपर की व्याख्या से हम काव्य या साहित्य मात्र के सम्बन्ध में कतिपय निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं। प्रकृत मानव अनुभूति सार्वजनीन वस्तु है, इसमें वे कृत्रिम अनुभूतियाँ सम्मिलित नहीं हैं जिनकी शिक्षा कुछ विशेष व्यक्तियों या वर्गों को दी जाती है, जिससे साम्प्रदायिक काव्य का निर्माण होता है (जो वास्तव में काव्य नहीं)। इन अनुभूतियों का चित्रण जिस नैसर्गिक कल्पना के सहारे होता है उसे पारिभाषिक शब्दावली में 'प्रतिमा' कहते हैं। यह कल्पना जितनी ही नैसर्गिक होगी उतने ही उन्नत काव्य का सृजन करेगी। उतना ही चित्रण की सौंदर्यमयता बढ़ जायगी और उसका संवेदना भी उतना ही समुन्नत और प्रगाढ़ होगा। सार्वजनीन होने के कारण ही यह सौंदर्यतत्व सर्वकालीन या शाश्वत भी है। एक ही कविता सैकड़ों हजारों वर्ष के बाद भी वही सौंदर्य चेतना उत्पन्न करती है जो उसने आरंभ में उत्पन्न की थी।

अवश्य कविता सार्वजनीन और सर्वकालीन वस्तु है, किन्तु कवि के व्यक्तिगत विकास और संस्कार के अनुसार उसकी सौन्दर्यानुभूति की शक्ति, मात्रा और कीमतीपन में अन्तर हुआ करता है और उन अनुभूतियों को व्यक्त करने का सामर्थ्य या योग्यता भी कम वा अधिक हुआ करती है। इन सारी वस्तुओं का परिचय हमें कवि की उस रचना से ही प्राप्त होता है इसलिये काव्य विवेचन में रचना या अभिव्यक्ति ही सब कुछ है। वास्तव में काव्य के उत्कर्ष या अपकर्ष की परीक्षा और वर्गीकरण इन्हीं विशेषताओं के आधार पर किया जा सकता है। यों व्यावहारिक विभाग के लिये हम महा-

काव्य, गीत काव्य, उपन्यास, आख्यायिका, नाटक रूपक आदि के विभाग किया करते हैं अथवा वौधिक सीमा रेखाओं या वादों के अन्तर्गत भी हम कवियों और उनकी रचनायें ले लिया करते हैं। अपने स्थान पर इन पिछले वर्गीकरणों का भी मूल्य हो सकता है किन्तु काव्य का तात्विक मूल्य तो प्रथम वर्गीकरण में ही है।

यह पूछ सकते हैं कि कविता यदि शाश्वत वस्तु है तो उस पर देशकाल आदि का संस्कृतियों और विचार धाराओं का क्या कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। यह पहेली ऊपर से जितनी सन्दिग्ध जान पड़ती है वास्तव में उतनी ही सरल है। देश, काल, और वातावरण का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति और समाज पर पड़ता है, कवि पर तो वह और भी अधिक असर करता है। इसलिये सच्चे कवि और साहित्यकार प्रायः प्रगतिशील ही हुआ करते हैं। किन्तु कवि का कार्य प्रगति-शील होना नहीं है। प्रगतिशील सामाजिक प्रेरणाओं, स्वरूपों और प्रवृत्तियों को शाश्वत सौन्दर्य-संवेदन का स्वरूप देना है। आज का प्रगतिशील व्यक्ति कल पिछड़ सकता है किन्तु हृदय के चिरन्तन सौन्दर्य-तारों को स्पर्श करने वाला कवि कभी पिछड़ता नहीं। कालि-दास और शेक्सपियर, होमर और मिल्टन, वाल्मीकि और तुलसी, सूर और कबीर शताब्दियों पुराने हैं। किन्तु उनका काव्य उतना ही ताजा और उतना ही प्रगतिमान आज है जितना वह किसी दिन था।

पर आज हमें ऐसे समीक्षक भी मिलते हैं जो इन कवियों को अथवा इनमें से कुछ को आज के लिये प्रतिगामी, प्रतिक्रियाशील अथवा

झगड़ा हुआ बतलाते हैं। अवश्य यह समीक्षक उन कवियों के काव्य में निहित विचार अथवा उस आचार व्यवहार का विरोध करते हैं जो आज के समाज के उपयुक्त नहीं है। उनकी दृष्टि काव्य सौन्दर्य और भावना की सबलता और चिरंतनता पर नहीं जाती। वे समाज के नए रूपों और विचारों के साथ उन पुराने रूपों और विचारों का मेल नहीं मिला पाते। किन्तु काव्य की कथा वस्तु और विचारधारा अपना एक स्थान रखते हुए भी काव्य का मुख्य अंग नहीं है। एक ही विचारधारा की पृष्ठभूमि पर उत्कृष्ट और हेय दोनों ही प्रकार के काव्य रचे जा सकते हैं, जो वस्तु काव्य को स्थायी बनाती है वह है चिरंतन या अनुभूति अथवा संवेदन का सौन्दर्यपूर्ण संग्रह। बिना इनके हमारे विचार चाहे जितने ऊँचे हों हमारा काव्य नीरस हो जायगा। टालस्टाय और गोर्कि दोनों में विचारों का स्पष्ट विभेद है किन्तु उनका रचना चातुर्य एक ही श्रेणी का और उनकी सहानुभूति एक ही दिशा में है। फलतः ये दोनों ही समसामयिक रचनाकार वादों में अन्तर होते हुए भी एकसे सम्मानित हैं। इससे स्पष्ट है कि वादों का बखेड़ा उठा देने पर साहित्य में जो कुछ रह जाता है, वह सम्मान की वस्तु है। संप्रति हमारे साहित्य में बौद्धिक विचार का प्राधान्य होने के कारण वादों को प्रमुखता मिल रही है किन्तु आशा है, यह ज्वार शांत होने पर काव्य को उसकी नैसर्गिक प्रतिष्ठा प्राप्त होगी।

आज हम साहित्य में सामयिक जीवन की वास्तविकता चाहते हैं। नए आचार विचार, नई रहन सहन को ऐसी हल्की किन्तु सच्ची

चीजें जिनमें वर्तमान साहित्यिक गंभीरता, भावुकता, काल्पनिकता और आदर्शवादिता का नाम न हो। ये वस्तुएँ नवीन सामाजिक व्यवहारों में अब अनाकांक्षित और वास्तविक मालूम दे रही हैं। हम नवीन जीवन का सौन्दर्य उसकी सहज अकृत्रिमता में देखना चाहते हैं। किन्तु वस्तुवाद के नाम पर आज हमें हिन्दी में मिल क्या रहा है? अधिकांश सस्ता, उत्तेजनाशील या बेसिलसिला साहित्य। अधिकतर इस साहित्य के नाम पर जो चीजें आ रही हैं वे या तो उपदेशात्मक होने के कारण असाहित्यिक हैं अथवा आदर्शवाद की प्रतिक्रिया के रूप में अतिशय नग्न व्यंग्यात्मक और अस्थायी हैं। रचनात्मक, नई, सांस्कृतिक अभिरुचि का द्वार अभी हमारे साहित्य में ठीक तरह से उत्घाटित नहीं हुआ। इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि समाज की नवीन वास्तविकता अभी हमारे यहाँ पूरे प्रकाश में नहीं आई है, न उसकी प्रेरणाएँ यथेष्ट बलवती हो पाई हैं। यों तो साहित्य में कभी किसी वाद या विचार प्रणालीविशेष का संग्रह नहीं किया जा सकता, किन्तु वर्तमान अवस्था में छायावाद या रहस्यवाद के माध्यम में आने वाली प्रौढ़ रचनाओं और उनकी कलाशैलियों का सामयिकता के नाम पर तिरस्कार हम किसी प्रकार नहीं करते।

ऊपर मैंने जो कुछ कहा उसका यह मतलब नहीं है कि कवि और साहित्यकार बदलते हुए समय और बदली हुई परिस्थिति के अनुरूप नये विचारों का स्वागत न करें। मैं कह चुका हूँ कि अपनी तीव्र संवेदनाओं के कारण वे ही नए युग के अग्रदूत और विधायक

हुआ करते हैं। नई जीवन स्थितियाँ उन पर अनिवार्य रूप से असर करती हैं और नए ज्ञान को वे आदर के साथ अपनाते हैं। वर्तमान समय में हमारा पुराना सामाजिक और आर्थिक ढांचा बदल रहा है और नई समस्याएँ सामने आ रही हैं। इनका असर सारी सामाजिक रीति, नीति और प्रथाओं पर पड़ रहा है। इन सब में परिवर्तन अवश्यंभावी है। वल्कि कहना यह चाहिये कि तीव्र वेग से होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप यही पुरानी व्यवस्था उच्छिन्न हो रही है। नई जीवनशक्तियों के न पहचानना और प्रगति का साथ न देना न केवल अदूरदर्शिता होगी; आत्मघात भी कहा जायगा। कहा जाता है कि इन परिवर्तनों के साथ ही समाज की नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादाएँ वदल जावेंगी और काव्य की माप में भी अन्तर आ जायगा। जहाँ तक उन प्रथाओं का संबंध है जो प्रचलित विधि निषेधों का द्योतन करती हैं उनका बदल जाना स्वाभाविक है। किन्तु उनके कारण हमारी नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादा का बदल जाना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह तो हमारी नसों में व्याप्त है। उल्टा उसकी परीक्षा ही इन परिवर्तनों में होगी। और काव्य पर इन परिवर्तनों का क्या असर हो सकता है, वह तो अमिट सौन्दर्य की सृष्टि है, आप पूछ सकते हैं कि बिना वैज्ञानिक दृष्टि से परिवर्तन के क्रमों का अध्ययन किये बिना नवीन मनोविश्लेषण की जानकारी रक्खे, संक्षेप मे बिना नवीन वादों का प्रश्रय लिये हमारा काव्य समय के साथ रह ही कैसे सकता है ! इसका सीधा उत्तर यह है कि हम इन अध्ययनों से मुँह नहीं मोड़ना चाहते, किन्तु हम इन वादों से भी

बल्कि जीवन का, चारों ओर फैले हुए जीवन का अध्ययन करना चाहते हैं, और सच पूछिये तो हम जीवन से भी अधिक उसके संवेदनों का जीवन के अध्ययन से प्राप्त सुष्ठुतम अनुभूतियों का काव्यप्रणाली से अभिव्यंजन करना चाहते हैं, फिर वह प्रणाली रहस्यवाद की हो या अन्य किसी भी वाद की। अब यह उन अनुभूतियों के जीवन का रस और उस प्रणाली में स्वानुभूत सौंदर्य की आभा होनी चाहिये। उतना ही हमारे लिए अलम् होगा।

———

श्री रामनाथ लाल 'सुमन'

'सुमन' जी का जन्म वि० संवत १९६० में दौलापुर (बनारस) में हुआ। सन् १९२१ तथा १९३२ के असहयोग आन्दोलन में आपने जेल जाकर अपना कर्तव्य पूरा किया।

'हमारे साहित्य निर्माता' तथा 'कवि प्रसाद की काव्यसाधना' आपके समालोचनात्मक ग्रन्थ हैं। 'हमारे साहित्य निर्माता' में हिन्दी के कई प्रसिद्ध लेखकों का आलोचनात्मक परिचय दिया गया है।

'कवि प्रसाद की काव्सांधना' वि० संवत १९९५ में छात्र-हितकारी पुस्तक माला से निकली थी। यह केवल प्रसाद की काव्य साधना ही नहीं है वरन् कवि की जीवनी संस्मरण, तथा कवि एवं काव्य का विवेचन भी है। इसमें लेखक ने प्रसाद जी का परिचय, मनोवैज्ञानिक विकास, काव्यधारा, कामायनी तथा जीवनी-सब का उल्लेख किया है।

आपकी आलोचनाओं में पौर्वात्य और पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन के लक्षण स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं।

आपने आशा दिलायी है कि इसी प्रकार की समीक्षाएँ मैथिलीशरण, माखनलाल, निराला, पंत, बच्चन और महादेवी पर भी निकालेंगे।

———

कामायनी की महत्ता

मैं पहले कहीं लिख चुका हूँ कि हिन्दी-साहित्य में 'कामायनी' का प्रकाशन एक घटना है। युगों तक अरण्य में भटकने और सस्ती भावुकता की आँधी में उड़ने के बाद हिन्दी-काव्य के मानस को यहाँ समुद्र की विशालता प्राप्त हुई है। काव्य ने स्वरूप को पहचाना और अपनी आत्मा को प्राप्त किया है। कामायनी आधुनिक हिन्दी काव्य का रामचरितमानस है, और बड़े गर्व के साथ इसे हम विश्व-साहित्य की श्रेष्ठ कृतियों के सामने रख सकते हैं।

कामायनी का कथाभाग वैदिक उपाख्यानों से लिया गया है। इसमें एक नूतन मानवी युग-मन्वतर की प्रतिष्ठा के ऐतिहासिक प्रयत्न का चित्र है। देवगण के उच्छृङ्खल स्वभाव, भोग-विलास और निर्बाध आत्मतुष्टि का महान् जल-प्लावन में अन्त हो गया। यह जल-प्लावन भारतीय इतिहास के प्रागैतिहासिक काल की एक प्रधान घटना है। इसका वर्णन ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण में विशेष रूप से मिलता है। आश्चर्य की बात है कि इस प्रकार के जलप्लावन की कोई न कोई कथा प्रायः सभी प्राचीन सभ्यताओं के साथ जुड़ी हुई है। प्राचीन बैबिलोनियन साम्राज्य के अभ्युत्थान काल में जो महा-काव्य वहाँ लिखे गये थे उनमें भी महा प्रलय (Great Deluge) और सृष्टि के नवीन क्रम की कथा का वर्णन हुआ। बैबिलोनियन लोग चैल्डिया में सीरिया से आये थे। इससे प्रकट होता है कि सीरिया में

भी वे कथाएँ प्रचलित रही होंगी। बाइबिल के कुछ प्रारम्भिक अध्यायों में भी इसी महाप्रलय की छाया दिखाई देती है। अरब तथा मिस्र में भी हज़रत नूह की नाव तथा जल प्रलय का वर्णन है। पुराणों में भी जलप्रलय की कथाएँ मिलती हैं। इससे मालुम होता है कि जलप्लावन निश्चय ही एक बड़ी घटना थी, कोई कहानी नहीं। इससे यह अनुभव भी किया जा सकता है कि जलप्लावन के बाद वहाँ से बचे लोग भिन्न दिशाओं और देशों में चले गये होंगे। और वहाँ नवीन सभ्यताओं का निर्माण किया होगा। अथवा यह भी हो सकता है कि जलप्रलय के बाद जब फिर नूतन समाज की रचना हुई तो उसी में से लोग भिन्न भिन्न देशों को चले गये।

मनु के ऐतिहासिक पुरुष होने और एक नई मानवी सभ्यता का निर्माण करने की पुष्टि इससे भी होती है कि कुलू के उत्तरी छोर पर मनाली में मनु का एक प्राचीन मन्दिर है। कुलू को देवों की घाटी भी कहा जाता है। भारत में मनु का मन्दिर केवल यहीं है और यहाँ वशिष्ठ, व्यास आदि के आश्रम और मन्दिर भी हैं। जान पड़ता है मनु ने, अपनी मानवी-सभ्यता यहाँ प्रतिष्ठित की थी।

चाहे जो हो, मानना पड़ेगा कि यह जलप्लावन हमारे आदि इतिहास की एक महान् घटना है। इसके बाद मानवता के एक सर्वथा नूतन युग का आरम्भ हुआ। एक नवीन सभ्यता की प्रतिष्ठा की गई इसी का वर्णन कामायनी में है। प्रसाद जी ने इस कथा भूमि के ऊपर मानवता का एक श्रेष्ठ आकार खड़ा कर दिया है। उन्हें जो कुछ

कहना था उसके लिये यह कथा एक आदर्श साधन के रूप में उन्हें मिली। इससे एक ओर वह उछृंखल, विलास, और बुद्धि क्रीड़ा के होने वाले विद्रोह के रूप में अपनी उस कल्याणकारी विद्रोह भावना को व्यक्त कर सके जिसको वह हमारे साहित्य में शुरू से ले आये थे और दूसरी ओर उस भावना के मूल में आनन्द के एक शाश्वत तत्वज्ञान का कलामय रूप उन्होंने हमारे सामने रक्खा। कामायनी में विद्रोह भी है और उस विद्रोह का समाधान भी है।

साधारण कथा तो इतनी ही है कि कामायनी का नायक मनु महा प्रलय के पश्चात् बच गया है। देव सभ्यता का पूर्णतः पतन हो गया है। मनु चिन्तित हैं। एकान्त में मनु घबड़ाता है। इसी समय काम गोत्र की बाला कामायनी अथवा श्रद्धा से उनका परिचय होता है। मनु आकृष्ट होते हैं। श्रद्धा उनके यहाँ रहने लगती है। वह मानवीय संस्कारों की जड़ डालती है। पर मनु के पुराने देव संस्कार फिर जाग्रत होते हैं। वह शिकार करते, यज्ञ करते और बलि चढ़ाते हैं। श्रद्धा में उनको उस चञ्चलता का अभाव दीखता है जो पुरुष के मन को आकर्षित करती है। श्रद्धा माता होती है। उसकी ममता प्राणियों में बँट कर बढ़ रही है। पर मनु चाहते हैं कि यह दूसरों को क्यों स्नेह करे! सारा प्रेम मुझे ही क्यों न दे। इस ईर्ष्या और अहंकार के कारण मनु का मन उड़ा उड़ा फिर रहा है। वह भाग खड़ा होता है। सारस्वत प्रदेश में उनकी भेंट वहाँ की रानी इड़ा से होती है। इड़ा देवों की बहिन थी। और मनु के ही यज्ञ पूत अन्न से पली थी पर मनु को इसका पता न था। सारस्वत देश

उजड़ रहा था और इड़ा को एक आदमी की तलाश थी जो राज्य कार्य सम्हाल सके। वह मनु से प्रार्थना करती और मनु उसकी ओर आकृष्ट होते और शासन-कार्य सम्हालते हैं। राज्य खूब बढ़ता है। उसकी भौतिक उन्नति खूब होती है। मनु राज्य के सर्वस्व बन जाते हैं पर उनको इतने अधिकार से तृप्ति नहीं है। उनका मन इड़ा की ओर बार बार दौड़ता है। वह उस पर भी अधिकार चाहते हैं। प्रमाद बढ़ता है और वह उसके साथ जबर्दस्ती करना चाहते हैं और इस पर देव क्रुद्ध हो उठते हैं और प्रजा विद्रोह कर देती है। मनु युद्ध में घायल हो जाते और कई दिनों तक बेहोश पड़े रहते हैं। उधर श्रद्धा ने मनु की इस अवस्था का एक डरावना स्वप्न देखा है और बच्चे को लिए हुए मनु की खोज में चल पड़ी है। भटकते भटकते वह इड़ा के पास पहुँचती और रात भर के लिये आश्रय लेती है। वहीं उसे घायल और बेहोश मनु दिखाई देते हैं। वह सेवा सुश्रूषा से उनको होश में लाती है। मनु का स्नेह फिर उसकी ओर उमड़ता है इड़ा तथा प्रजा की ओर से खीझ पैदा होती है। अच्छे होते हैं पर आत्मग्लानि, आत्मवञ्चना और भ्रमपूर्ण विचारों एवं उलझनों के कारण एक दिन पुनः वहाँ से भाग खड़े होते हैं। श्रद्धा दुखी है। इड़ा को भी ग्लानि होती है। वह अपनी भूलों को समझती और श्रद्धा की ओर आकर्षित होती है। इड़ा श्रद्धा के पुत्र मानव को बहुत प्यार करने लगी है। वही उसकी तृप्ति का केन्द्र है। वह श्रद्धा से अपने हृदय की अशान्ति और अतृप्ति की बातें कहती है। श्रद्धा समझती है और अपने पुत्र को भी इड़ा के हाथ सौंप देती है और

कहती है दोनों मिल कर लोक कल्याण करो। इसके बाद मनु की खोज में चल देती है। एक पर्वत की घाटी में मनु से भेंट होती है। अब मनु अपनी भूलें समझ चुके हैं। वह अब श्रद्धा का अनुगमन करते हैं और वह उन्हें संसार के विविध रूपों का दर्शन कराती हुई ऊँचाइयों पर ले जाती है। मनु थक जाते हैं पर श्रद्धा उनको खींचे लिये जाती है। अन्त में एक दिव्य समतल स्थान आता है। यहीं मानससरोवर और कैलाश है। वहाँ मनु को एकात्मानुभूति और समत्व का ज्ञान होता है और उस विराट नृत्य के दर्शन होते हैं जिसमें सब भेदों का लय होकर आनन्द की समवस्था की दिव्य चेतना जगती है। यह समत्व का श्रेष्ठ आनन्द ही यात्रा की अन्तिम मंज़िल है।

यह छोटी सी कथा है पर इस कथा में मानव संस्कृति की स्थापना का जैसे सारा इतिहास आगया है। विलास-प्रधान देव-संस्कृति की जगह आनन्द-प्रधान और लोक कल्याणमयी मानव संस्कृति की स्थापना का इसमें चित्र है। इसमें सामाजिक प्रयोगों के दर्शन तो होते ही हैं पर उस तत्वज्ञान की भी एक झलक मिलती है जिसको लेकर ही मानव की आनन्द साधना चल सकती है। कामायनी की कथा जहाँ एक प्राचीन ऐतिहासिक प्रयत्न की कथा है तहाँ वह सम्पूर्ण मानवता के चिरन्तन द्वन्द्व की कथा भी है। इस कथा के मूल में जिस रूपक का आभास हमें मिलता है उसकी एक श्रेष्ठ दार्शनिक पृष्ठ भूमि है और उसके कारण कामायनी को सम्पूर्ण मानवता के काव्य का गौरव प्राप्त हुआ है।

मनु एक मननशील प्राणी है। वह चेतन मन का प्रतिनिधि है। वह नवीन अनुभवों और विचारों के प्रकाश में सदा सीखता और विकसित होता है। उसके इस विकास में श्रद्धा का महत्त्व अनिवार्य है। विलास के पूर्व संस्कारों को श्रद्धा के द्वारा ही कल्याणकारी रूप दिया जा सकता है। मनुष्य में जो काम प्रवृत्ति है, वह हेय नहीं है, निन्दनीय नहीं है। पर श्रद्धाहीन होकर वह उच्छृंखल भोग विलास और स्वार्थपरता में बदल जाती है। इस अधोगति से मन या मनु को ऊपर उठाने वाली श्रद्धा ही है। मन (या मनु) इस श्रेष्ठतर मार्ग में चलते हुए बार बार विद्रोह करता है। वह निर्बाध विलास, निर्बाध अधिकार का भूखा है। इस निर्बाध अधिकार के लिये वह बुद्धि (इड़ा) का आश्रय तथा सहायता लेता है और उसकी सहायता से एक बड़े समाज और सभ्यता की नींव डालता है। यह औद्योगिक एवं बुद्धि प्रधान सभ्यता है जहाँ प्रकृति के ऊपर विजय के गर्व से प्रजा की छाती फूल उठी है। पर अधिकार की प्यास इतने से भी तृप्त नहीं है। वह बढ़ती जाती है। मनु इड़ा पर भी जबरदस्ती करता है या यों कहें कि मन बुद्धि से व्यभिचार करता है। परिणाम यह होता है कि उसी की प्रजा उसके विरुद्ध विद्रोह करती है। वह घायल और त्रस्त है। ऐसे समय भी श्रद्धा ही उसे बचाती है। उसे मृत्यु के मार्ग से खींचकर जीवन के मार्ग पर लाती है। पर मन (मनु) पश्चात्ताप से दग्ध है और फिर इड़ा और श्रद्धा सबसे भागता है। श्रद्धा उसे खोज लाती, उसका उद्धार करती है। और उसके सहारे मनु अपनी जगत् के प्रति समवृत्ति और चिरआनन्द की

साधना में सिद्धि प्राप्त करते हैं तथा श्रद्धा के आदेश से मनु एवं श्रद्धा का पुत्र मानव इड़ा (बुद्धि) के सहयोग से मानवी समाज और सभ्यता का आरंभ करता है।

मानवता के विकास की दृष्टि से देखें तो उच्छृङ्खल निर्वाद पुरुष का श्रद्धामयी नारी ने किस प्रकार संस्कार किया है इसका सुन्दर चित्र भी कामायनी में है। जंगली शिकारी, स्वार्थ एवं पशु वृत्तियों से भरे हुए मनु (पुरुष) को श्रद्धा (नारी) किस तरह मानवी भावों से परिचित करती, किस तरह कुटुम्ब का आरम्भ होता, निजत्व की अनुभूति विकसित होती और काम प्रवृत्ति संस्कृत होती है। इसकी कथा यहाँ हम कहते हैं। यहाँ काम प्रवृत्ति (Sex Impulse) हेय नहीं है; न निर्वाद है। परन्तु उसे सेवा एवं लोक-कल्याण के विकास में एक अनिवार्य साधना का महत्व प्राप्त है। यहाँ सब प्रवृत्तियों के उचित उपयोग का सन्देश है।

इस तरह हम यह भी देखते हैं कि प्रसाद जी की नारी पुरुष को गिराने वाली नहीं वरन् उसका उद्धार करने वाली है। वह उसकी सत्प्रवृत्ति के समान उसे दुखों, कष्टों के बीच से निकालती हुई आनन्द के शिखर तक पहुंचाती है। उसने पुरुष को काम प्रवृत्ति का ऐसा उपयोग सिखाया कि उसके रक्त की धारा जाति और सन्तति के रूप में सदा जीवित रहे। यह मृत्यु पर मानवता की विजय थी। पर सभ्यता का यह स्रोत तभी तक चल सकता है जब तक मानव-बुद्धि और श्रद्धा का समुचित सहयोग और संतुलन रखता है। बुद्धि तो समाज के विकास का अनिवार्य साधन है पर उसके मूल में श्रद्धा

की प्रेरणा होनी चाहिये। श्रद्धाहीन बुद्धिवाद का जो परिणाम होता है वह हम "कामायनी में देखते हैं और वैज्ञानिक सभ्यता की दुर्दशा के रूप में आज भी देख रहे हैं। जब तक निर्बाध अधिकार और भोग की उच्छृंखल लालसा है तब तक सभ्यता को शुद्ध वैज्ञानिक रूप प्राप्त नहीं हुआ। तब तक मानव बुद्धि-विलास से भ्रमित है। अपने में ही भूला हुआ श्रद्धा को छोड़ कर वह बुद्धि पर संयम और नियन्त्रण नहीं रख सकता। क्योंकि आसीन संकटों के बीच मनुष्य को जीवित रखने वाली, उसे उत्साहित करने वाली चीज श्रद्धा ही है। जब मनु थक जाते हैं तब भी श्रद्धा की प्रेरणा से आगे बढ़ते जाते और अन्त में उस स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ समत्व के अनुभव से उनकी बुद्धि स्थिर और वृत्तियाँ चिर-आनन्दमयी हैं। इस तरह हम देखते हैं कि "कामायनी" में सम्पूर्ण मानवता का चित्र है। वह मनुष्य की सम्पूर्णता की साधना के प्रकाश से प्रकाशित है। उसमें मानवी सृष्टि का आरम्भ, उसका विकास और चरमसिद्धि का मूल तक है। उसमें यह संकेत है कि मानवता का शुद्ध रूप क्या है। किस तरह वह कल्याणकारी हो सकती है। उसमें वास्तविकता से पलायन नहीं है वरन् उसी वास्तविकता के उचित उपयोग और उसके रस से पुष्ट होकर उसका संस्कार करने का सन्देश है। चाहे जिस दृष्टि से देखें "कामायनी में न केवल महत्ता वरन् प्रति पग पर संतुलन भी है। और महत्ता का श्रेष्ठ प्रमाण है इसकी कथा, इसकी पृष्ठभूमि, इसकी उठान, इसका दृष्टि कोण कुछ ऐसा महान् और असाधारण है कि पाठक आश्चर्य से अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकता।

वस्तुतः जैसा हिन्दी के विचारवान् आलोचक श्री नन्ददुलारे बाजपेयी ने कहीं लिखा है--शताब्दियों के पश्चात् मानस का ऐसा सुन्दर चित्र हमें देखने को मिला है। यहाँ मानवता का कल्याणकारी आदर्श, कल्पना की जगह बुद्धि की नींव पर खड़ा किया गया है। और उस नीव में श्रद्धा का रस है। श्रद्धा और बुद्धि से संतुलित जीवन की मङ्गल दृष्टि "कामायनी" हमारे युग की अव्यवस्थित मानवता की बहुत बड़ी देन है।

पं० भगवती प्रसाद वाजपेयी

वाजपेयी जी का जन्म संवत् १९५६ में मंगलपुर, जिला कानपुर में हुआ था। अत्यन्त साधारण परिवार में उत्पन्न होकर आपने अपनी प्रतिभा तथा उद्योग से साहित्य में प्रसिद्धि प्राप्त की है। आप आजकल प्रयाग में रहते हैं। आप एक सफल उपन्यासकार, कहानी लेखक और कवि हैं। कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में आपका स्थान अग्रगण्य लेखकों में है।

आपने समीक्षा सम्बन्धी कोई पुस्तक नहीं लिखी है पर कहानी और कविता के संकलनों में आपने एक नई समीक्षा पद्धति का अनुसरण किया है। प्रतिनिधि कहानियाँ, नवीन पद्य संग्रह और युगारंभ की भूमिकाओं में समालोचनात्मक अंश भरे पड़े हैं। युगारंभ की भूमिका में आधुनिक काव्य की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है। इसमें काव्य की बाह्य समीक्षा की अपेक्षा अन्तः समीक्षा अधिक सुन्दर ढंग से की गई है। आपकी आलोचनाओं में मनोवैज्ञानिक समीक्षा-प्रणाली का बहुत कुछ आभास मिलता है।

आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ

हिन्दी कविता की आधुनिक प्रवृत्तियाँ आज अवगुण्ठनवती नववधू न होकर प्रकाशवती ज्योति हैं। जीवन के लिए एक गति है उनमें, विकास के लिए स्वस्थ जागृति रखती हैं वे। और प्रवाह तो उनका स्थायी गुण है।

कहा जाता है, कविता जीवन की आलोचना है। और आलोचना की सृष्टि में तर्क के खेल रहते हैं। कविता एक लहर है, तो आलोचना उसके लिए एक जिज्ञासा। कविता एक भावना है, तो आलोचना विचार। जीवन में जो गति है, प्रेरणा, वृत्ति; उसका गायन है कविता। अच्छा तो कविता का उद्देश्य क्या है? मैं कहना चाहता हूँ जीवन। किन्तु अगर कोई मुझसे पूछे कि जीवन का उद्देश्य क्या तो भी मैं कहना चाहूँगा—जीवन। इस प्रकार उद्देश्य के पथ में कविता और जीवन मिल जाते हैं। लेकिन प्रश्न है कि क्या जीवन का कविता से एकात्मभाव, सादृश्य; सम्भव है?

जीवन तो शृङ्खलाओं में पड़ कर बन्धन हो गया है। समाज के साथ व्यक्ति बँधा हुआ है। समाज ने मर्यादाएँ स्थिर की हैं और मनुष्य को उनमें बाँध दिया है। समाज की कुछ सीमाएँ सांस्कृतिक हैं, कुछ आर्थिक। और मनुष्य को उन्होंने विवश और पंगु बना डाला है। जीवन में कितनी जड़ता आ गयी है, कैसा वह कृत्रिम बन गया

है। किन्तु तो भी मनुष्य समझता है, प्रकट करता है, कि वह जीवित है, संतुष्ट है—अपने आप में पूर्ण।

कविता तरङ्ग है, किन्तु जीवन तो तरङ्ग नहीं बन सका। कविता तो हमारे स्वप्नों को स्वर में, शब्दों में, भरकर साकार बना देती है। किन्तु जीवन को तो स्वप्न नहीं बनाया जा सकता। जीवन तो जगत् के स्थूल तथ्यों के आगे प्रायः घुटने टेक कर चलता है। पर कविता तो इतनी परवश नहीं है। जीवन तो वह है जो बन सका है, मिल सका है, प्रत्यक्ष है। किन्तु कविता ने अपने को इतना समीप नहीं बनाया। जीवन में जो वियोग है, कविता के लिये वही संयोग। जीवन अपने को जो नहीं बना सका, कविता उसके स्वप्नों की झाँकी है। जीवन में जो प्रत्यक्ष हो नहीं पाया कविता उसके साक्षात्कार की विवृत्ति है। जीवन तो अस्थूलता से घिरा हुआ है। स्पष्टता उसका लक्षण है। कविता सूक्ष्म जगत् की वस्तु है और स्पष्टता उसके लिए स्वाभाविक है, ग्राह्य। जीवन की अस्पष्टता ही कविता की सार्थकता और स्पष्टता है। जीवन तो बाहर फैला हुआ है, किन्तु कविता अन्तर्जगत् में है। जीवन बन्धनमय है, किन्तु कविता निर्बन्ध। जीवन गति है, कविता उसकी भावना।

बुद्धिवादी आलोचक कविता में अगर केवल जीवन देखना चाहता है, तो उसे सब से पहले यह जान लेना चाहिये कि बुद्धि गति नहीं है। प्रेरणा है गति। बुद्धि तो मंत्रणा मात्र है। उसका काम है विमर्श उत्पन्न करना। किन्तु जीवन की अन्तर्धारा पर शासन रहता है सदा

भावनाओं का। और कविता उन्हीं भावना तरङ्गों के संगीत का नाम है।

किन्तु कविता जीवन से दूर की ही वस्तु है, यह बात भी नहीं है। जीवन से मानवता की जहाँ तक संलग्नता है, मनुष्य की आत्मा पर उसने जो प्रभाव डाला है, कविता का उससे आत्मीय सम्बन्ध है। जीवन के विशेष निकट वह तब आती है, जब वह उसके मर्म की पीड़ा, अभावों के विद्रूप हास, विकार-जन्य प्रमाद, निराशाजन्य उच्छ्वास और विषम परिस्थिति-जन्य विद्रोह के निर्घोष की वस्तु बन जाती है।

इस प्रकार कविता जीवन से जितनी दूर है उतनी ही निकट। बुद्धिवादी मानता है कि आज मानवात्मा पर बुद्धि का ही शासन है, भावना का नहीं। मेरी परख ऐसा नहीं मानती। पहले ही कह चुका हूँ कि बुद्धि भावना से लड़ती रहती है। जब तक भावना उसको अपना नहीं लेती, तब तक मनुष्य कार्यशील नहीं होता। बुद्धि गति नहीं है, भावना है गति। मनुष्य परिस्थितियों के आगे जो घुटने टेक देता है, बुद्धिवादी कहता है कि यह उसकी हार है। मनुष्य परिस्थितियों के प्रताड़न से ऊपर है। यहीं बुद्धिवाद से प्रगतिवाद की उत्पत्ति हुई है।

हिन्दी कविता का आदि युग बीत चला है। इस समय हिन्दी के काव्य-जगत् पर राज्य हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त का नहीं है, निराला और पंत का है। नवीन भावधाराओं की भर्त्सना और पुरातन की प्रशंसा और रक्षा आधुनिक युग की ही देन नहीं है। मनुष्य का

स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह अगली पीढ़ी अथवा नयीपौध के प्रति कुछ आस्था नहीं रखता। नवीन की निन्दा और प्राचीन की प्रशंसा करते रहना हमारा सांस्कृतिक गुण है। साकेत और प्रिय-प्रवास की सृष्टि आज के युग की प्रेरणा नहीं हो सकती; यद्यपि काव्य के कतिपय स्थायी तत्व इन कृतियों में भी हैं। पुरातन का यशोगान आज के साहित्य का स्फुरण हो नहीं सकता। जीवन में आज व्यस्तता और विविधता उस युग से कहीं अधिक है, जब अतीत का दर्शन हमारी स्वप्न-सृष्टि हो सकती थी। खड़ी बोली की आदिकालीन कविता तो एक प्रतिक्रिया थी, रीतिकालीन कविता के एकांगी आत्म-प्रमाद की। प्रतिक्रियाजन्य उस अस्थिरता, एकरूपता और जड़ता से आज हमारा काव्य आगे है, कहीं आगे।

कवि 'प्रसाद' केवल इसी युग की वस्तु नहीं हैं। इस युग के अनुशासन से उनका स्थान कहीं ऊपर है। वे एक ऐसी धारा के जनक हैं जिसका अनुकरण भी असाधारण कवि-प्रतिभा से ही सम्भव है। आदिम युगीन संस्कृति, विश्व-सृष्टि, विश्व-प्रकृति तथा मनुष्य की निगूढ़तम अन्तर्वृत्तियों का जो चित्र उन्होंने 'कामायनी' में उपस्थित किया है, वह तो दुर्लभ है—दुर्लंघ्य। सीमाहीन भविष्य के चिरविस्तृत क्षेत्र में उनके लिए जो उच्च स्थान निश्चित है, उसको पाना तो आज एक कल्पना है, स्वप्न। आज के जगत्, समाज संस्कारों और प्रचलनों से उसे तोलना एक प्रयोग मात्र होगा।

आज के काव्य की प्रेरणाओं का स्रोत वर्तमान जीवन की निकटता

प्रात कर चुका है। पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार ने हमारी नयीपौध को जीवन निर्माण में जो नवल प्रेरणाएँ दी हैं, आज की कविता उसकी देन है। द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध में हिन्दी कविता में एक जड़ता-सी आ गयी थी। तदनन्तर उसने करवँट बदली। हमारी आज की समस्याओं और भावधाराओं के ऊहापोह का मूल आधार है जीवन का वैषम्य और मानवात्मा के प्रति पूँजीवाद और रूढ़िवाद का कशाघात। तभी तो आज की कविता में हमें वेदना, निःश्वास चीत्कार और विद्रोह के गायन मिलते हैं। आज का मानव संतोषी नहीं है, क्योंकि वह विकासशील है। परिस्थिति से वह लड़ना चाहता है; हमारे गुरुजन आज हमारे काव्य में अतृप्त वासना की मांसल अभिव्यञ्जना देखकर जो कुपित होते हैं; वह उनके सांस्कृतिक निर्माण की एक दुर्बलता है। आज हमारे जीवन में अगर अतृप्त आकांक्षाओं की आँधियाँ हैं, तो अपने काव्य से हम उसे दूर कैसे कर सकते हैं।

छायावाद के प्रारम्भ काल में हिन्दी कविता ने प्रचलित भाव धाराओं के साथ जब विद्रोह का शंखनाद किया, तब अनुशासन का पात्र उसे बनना पड़ा था। जीवन की सर्वाङ्गीण आलोचना में उस समय एकाएक निराशा के बवण्डर उठने पर निःश्वासजन्य वातावरण ने कवि को प्रेरणा दी थी। उस समय कविता में कुछ अस्पष्टता तो स्वाभाविक थी। बात यह है कि आख्यान में जो एक शृङ्खला रहती है, कथन में जो एक क्रम रहता है, छायावाद की नव-नव वृत्तियों में उसकी समीचीन मुखरता नहीं थी। और खड़ीबोली की उस काल की

कविता में इसी का प्रचलन था। तत्कालीन आलोचकों ने देखा ही नहीं, अनुभव ही नहीं किया, कि आज की कविता में जो अस्पष्टता है वास्तव में उसका कारण क्या है? कविता में स्पष्टता, उस काल का आलोचक, एक बहुत बड़ा गुण मानता था। किन्तु यह एक भ्रम है। जो व्यक्त है कविता उसी की अभिव्यक्ति मात्र तो नहीं है। वह तो अव्यक्त को भी व्यक्त करती है। अच्छा तो जीवन में जो व्यक्त नहीं हो पाया, मुखरित और मूर्तित नहीं हो सका, आकार जिसने ग्रहण नहीं किया, एक स्वप्न-सा ही होकर जो रह गया, यदि उसको कविता में व्यक्त करने की चेष्टा की गयी है, तो अस्पष्टता तो उसके लिए स्वाभाविक ही है। मनुष्य उसमें पूर्ण रूप से व्यक्त हो कैसे सकेगा? हिन्दी-कविता में छायावाद और रहस्यवाद की सृष्टि का यही एक कारण है।

उस समय सोचा गया था कि छायावाद हिन्दी कविता को अन्धकाराच्छन्न गर्त की ओर लिये जा रहा है। कविता में प्रसाद-गुण की महिमा के बड़े ही सुधरे और सुलझे हुए गान, उस समय, गाये गये थे। पिङ्गल, रस और अलङ्कारों की (Stereo typed) पद्धतियाँ उस समय हिन्दी कविता के गले में तौक की भाँति झूम रही थीं। उस समय कौन जानता था कि जिस छाया-वाद पर पत्थर बरसाये जा रहे हैं, वही एक दिन रहस्यवाद, यथार्थ-वाद, रोमैंटिसिज्म और प्रगतिवाद के रूप में प्रसार पाकर हिन्दी-काव्य के नव-नव जागरण का कारण होगा?

छायावाद और रहस्यवाद में विभेद करना हमारे इस वक्तव्य का विषय नहीं है। इसके लिए तो एकांत स्थल ही होना चाहिए। यहाँ इतना कह दूँ कि छायावाद जीवन के उन स्वप्नों का पर्य्यवेक्षण है, कल्पना की विदग्धता में जो उचट-उचट गये हैं। रहस्यवाद की स्थिति दूसरी है। वह तो मनुष्य के अन्तर्लोक में व्याप्त विस्मयात्मक, चमत्कार पूर्ण, अस्पष्टता एवं निगूढ़तम अनुभूतियों के प्रति एक अनुसंधानशील चेष्टा है। जीवन की अस्पष्टता के प्रति पहले चिन्तक और फिर कवि की वह एक जिज्ञासु वृत्ति है। अध्यात्मवाद से उसका निकट सम्बन्ध है।

कवि निराला और पन्त छायावाद के प्रमुख अधिष्ठाता हैं। रहस्यवाद के जनक माखनलाल चतुर्वेदी और 'प्रसाद' जी हैं। निराला और पन्त में जो अंतर है, वही माखनलाल और 'प्रसाद' में है। नवीन में (Romanticism) और प्रगतिवाद का मिश्रण है। श्रीमती महादेवी वर्म्मा तथा रामकुमार वर्म्मा रहस्यवाद के सफल कवि हैं। भगवतीचरण वर्मा मूलतः यथार्थवादी कवि हैं; यद्यपि आजकल उनकी दृष्टि प्रगतिवाद की ओर है।

यथार्थवादी कवि अपनी अभिव्यञ्जना में प्रायः कटु होता है। कटु सत्य का ही दर्शन वह अपनी कविता में करता है। सौन्दर्य उसके लिए आकर्षण न होकर तिक्तता-दर्शन का विषय हो जाता है पुष्प को देखकर वह न तो उसकी सुवास से मोहित होता है, न उसके रङ्गीन दलों से। उसकी दृष्टि जाती है, या तो शहद की उस मक्खी पर, जो रस चूस रही है, अथवा उस कंटक पर, जो एक ओर

चुपचाप दुबका हुआ उस अवसर की प्रतीक्षा में बैठा है, जब चुभ जाने का आनन्द प्राप्तकर वह संतोष की एक साँस ले सकेगा। रोमैंटिक कवि भाव-प्रवण होता है। यथार्थवादी भीतर से रूखा, ऊपर से सरस। भगवतीचरण में उग्रता यथार्थवादी है, समवेदना प्रगतिवादी। महादेवीजी की कवि-प्रेरणाओं में उस द्रष्टा का मर्मस्पर्श है, जो जीवन की अमूर्त पिपासा के प्रति मैत्री, रखना चाहता है। रामकुमार अमूर्त पिपासा के समाधान में एक अपूर्णता के द्रष्टा हैं यथार्थवादी वर्ग के दूसरे कवि हैं इलाचन्द्र जोशी। जीवन के सौंदर्य-दर्शन में वे भगवती बाबू की अपेक्षा अधिक सफल हैं।

किन्तु हिन्दी की अति आधुनिक कविता पर जिस धारा का सर्वाधिक प्रभाव है, वह है, प्रगतिशील धारा। जिस प्रकार खड़ी बोली कविता की आदिकालीन धारा में रीतिकालीन धारा के प्रति विद्रोह की झलक है, उसी प्रकार छायावाद और रहस्यवाद खड़ीबोली की आदिकालीन धारा के प्रति एक विरोध है। यथार्थवाद और रोमैंटिसिज्म का जन्म भी रहस्यवाद की निगूढ़तम शैली के प्रति तत्कालीन कवियों की विरोधिनी प्रवृत्तियों से ही हुआ है। प्रगतिवाद उसके बाद का क्रम-विकास है। आज का प्रत्येक प्रगतिवादी कवि मूलतः रोमैंटिक है। यथार्थवादी रोमैंटिक कवि की अपेक्षा रस-लोलुप कम होता है। यथार्थवाद स्वतः एक विद्रोह है हमारी उन कल्पनाओं के प्रति, जो सफल और साकार हो नहीं सकीं। इसीलिए संसार की कटुता किंवा नग्नता उसकी प्रेरणा में पहले आती है। प्रगतिवाद और यथार्थवाद में अन्तर केवल दृष्टिकोण का है।

प्रगतिवादी मूलतः आशावादी होता है। वह आशा को जीवन में देखता है। यथार्थवादी निराश पथिक है। विद्रोही दोनों हैं। अन्तर केवल इतना है कि यथार्थवाद में गर्जन-तर्जन की अधिकता है, सामञ्जस्य और समाधान का अभाव। प्रगतिवाद में इन दोनों का सुलझा हुआ रूप है।

तो प्रगतिवाद एक नवीनधारा है और जिसको छायावाद के विरुद्ध बहाने का सर्वाधिक श्रेय बच्चन और अंचल को है। प्रगति का आज जो संकुचित अर्थ कुछ थोड़े से साम्यवादी योरप-पर्य्यटक नेतृत्व पंथी व्यक्तियों ने लगा रखा है, हिन्दी कविता उसके प्रभाव से अछूती नहीं रह सकी है। खड़ी बोली कविता के आदिकाल में 'भारत भारती' शैली ने जन-साहित्य के नाम पर जो प्रचार पाया था, देखता हूँ, आज प्रगतिशील कवि बनने की चञ्चल अभिलाषा ने हिन्दी-काव्य में भी कुछ ऐसी ही अस्थायी हलचल उपस्थित कर दी है। मैं तो सीधी बात जानता हूँ कि जो कविता जीवन को गति देती है, उसे व्यक्त करती है; जो अभी जीवित और सदा जीवित रहने की वस्तु है, वह कुल की कुल प्रगतिशील है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि हमारे देश का जन-साहित्य अभी लिखा नहीं गया। हमारा अधिकांश साहित्य या तो सर्वथा उच्च दुर्ग का है, अथवा मध्य वर्ग का, निम्न वर्ग के साहित्य का एक बहुत बड़ा अभाव है हमारे यहाँ। मैं मानता हूँ कि आज पूँजीवाद की चक्की के नीचे हमारी मानवता पिस रही है। इस ओर दृष्टि डालना आज कवि के लिए अत्यंत आवश्यक है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या किसी एक

वर्ग, एक समय तथा एक स्थिति के लिए कविता को सीमिति-मर्यादित किया जा सकता है? क्या यह सम्भव है? और क्या यह एक प्रतिक्रिया नहीं है?

प्रगतिशील धारा के प्रमुख कवि हैं—उदयशङ्कर भट्ट, बच्चन, अञ्चल, दिनकर और नरेन्द्र। भट्ट जी की विवेचना दार्शनिकता लिये हुए है। बच्चन जीवन की सूक्ष्म वृत्तियों के साथ घुल-मिल जाने में बड़े प्रवीण हैं। आज उनकी सृष्टि में कवि है लय में दार्शनिक। 'अंचल' की वाणी में जितना दर्द है, वैसा ही हुङ्कार भी है। उनमें मार्क्सवाद की एक शक्तिपूर्ण पुकार है। 'दिनकर' की प्रेरणा भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। नरेन्द्र मस्तिष्क से प्रगतिशील हैं, किन्तु प्रकृति से रोमैंटिक।

जैसे आशा जीवन के लिए प्राण है, वैसे साहित्य के लिए भी आशा भविष्य है। और भविष्य के प्रशस्त पथ में उसी आशा की किरण मैं हिन्दी की आधुनिक कविता में देख रहा हूँ।



प्रो० नगेन्द्र

नगेन्द्र जी कमर्शल कालेज, दिल्ली में अंग्रेजी के अध्यापक हैं। 'सुमित्रानन्दन पंत' तथा 'साकेत एक अध्ययन' आपकी समीक्षा सम्बन्धी पुस्तकें हैं। पन्त जी पर यह पहिली पुस्तक है। इसमें पन्तजी की विचारधारा, कला, भाषा, भावजगत और कृतियों पर प्रकाश डाला गया है। इस विवेचना में समालोचक के हृदय का कवि जागृत हो उठा है। प्रारम्भ में छायावाद की विशेषताओं का विद्वत्तापूर्ण विवेचन है। 'साकेत-एक अध्ययन'—कृत्ति-समीक्षा की परिचायक है। 'आज का हिन्दी-साहित्य' नामक एक और पुस्तक निकल रही है।

आपकी समीक्षाओं में पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन की छाप पड़ी है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में सिद्धहस्तता प्राप्त करना ही पाश्चात्य प्रभाव का फल है। आपके समीक्षा मार्ग पर चलने से हिन्दी में समीक्षा साहित्य की अधिकाधिक वृद्धि हो सकती है।

छायावाद

स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है। स्थूल शब्द बड़ा व्यापक है। इसकी परिधि में सभी प्रकार के वाह्य रूप रंगरूढ़ियाँ आदि सन्निहित हैं। और इसके प्रति विद्रोह का अर्थ है उपयोगितावाद के प्रति भावुकता का विद्रोह, धार्मिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातन्त्र्य का विद्रोह और काव्य के बन्धनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना का विद्रोह।

इस प्रकार स्वातन्त्र्य, भावयोग, अनेकरूपता, कल्पना और विद्रोह इन सभी तत्वों ने मिल कर द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता के विरुद्ध काव्य क्षेत्र में एक नवजागृति उपस्थित की, जिसको कि विद्वानों ने (कदाचित् उपहास के लिये) 'छायावाद' का नाम दिया। उनका उद्देश्य इस नामकरण के आगे जो कुछ रहा हो, परन्तु महादेवी जी के शब्दों में 'स्वच्छन्द छन्द में चित्रित इन मानव अनुभूतियों का नाम' छायावाद बहुत ही उपयुक्त हुआ। कविवर पन्तजी ने छाया को 'अविदित भावाकुल' भाषा सी इसी अर्थ में कहा है।

आजकल अधिकतर मनीषी समालोचकों की यह प्रवृत्ति हो रही है कि वे पहिले तो इस स्कूल को धार्मिक रहस्यवादी सम्प्रदाय से एक रूप कर देते हैं और फिर आधुनिक कवियों की जीवन चर्य्या का उक्त काव्यगत धार्मिकता से सामञ्जस्य न पाकर एक उलझन में पड़

जाते हैं। यदि सहृदय हुए तो इस सामञ्जस्य पर कुछ क्षोभ प्रकट करके ही शान्त हो जाते हैं, अन्यथा वे उन कवियों की सभी भावनाओं को भाषा और अलङ्कारों को झूठा घोषित करके ही रुकते हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो आधुनिक छायावाद का रहस्यवाद एक अंग तो है, पर्याय नहीं। इसके अन्तर्गत और भी बहुत सी विचारधाराएँ काम कर रही हैं, जिनका आध्यात्मिकता से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं। इस कारण यदि हमें अपने बहुत से प्रतिनिधि कवियों में धार्मिकता दृष्टि-गोचर नहीं होती है तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। हाँ, यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि आजकल अनावश्यक आध्या-त्मिकता का आकर्षण कुछ-कुछ दम्भ का रूप अवश्य धारण करता जा रहा है।

सौन्दर्य भावना (प्रकृति)

अंगरेजी 'रोमान्टिक रिवाइवल' की भाँति लगभग एक-सी परिस्थिति में जन्म ग्रहण करने के कारण आधुनिक छायावाद भी एक विशेष प्रकार की जाग्रति का साहित्यिक रूप है, जिसकी नींव सौंदर्य्य और अद्भुत के मिश्रण पर स्थित है। रीतिकाल का एकान्त सौन्दर्य्य निर्जीव था, रूढ़ियों ने उसे और भी चेतनाहीन और भाव-शून्य बना दिया। भारतेन्दु ने अपनी विलास बांसुरी में जो देशभक्ति का मन्त्र फूंका उसमें यथेष्ट जीवन तो था, किन्तु वह हृदय की सहचारिता न पा सकने के कारण बहुत शीघ्र ही शुष्क और नीरस हो गया। इसी समय अंगरेजी के प्रत्यक्ष एवं बंगला के माध्यम द्वारा प्राप्त प्रभाव भी

प्रेरणा से प्रेरित हो कर हिन्दी की चिर-आबद्ध आत्मा के जिस सौंदर्य की उपासना की वह एकान्त अतः निर्जीव नहीं था। उसमें अद्भुत चमत्कार था। इसी कारण वह चिर नूतनता समन्वित हो गया और उसकी परिधि कन्हाई के मुकुट और राधा की लट तक ही सीमित न रह कर बाह्य और आन्तरिक दोनों संसारों तक विस्तृत हो गई। कमल, कदली, चन्द्र, घाट, पनघट और 'छहर छहर छोटी बूँद न छहरिया' एवं 'सरद जुन्हइया' का रूढ़िबद्ध आकर्षण अशक्त पड़ गया और प्रकृति के अगणित लीला क्षेत्र कविता के भी क्रीड़ास्थल हुए। अब कवियों के लिये प्रकृति जड़ और मृतक वस्तु नहीं रह गई, उसके अन्दर भावुकता ने एक संवेदनशील हृदय टटोल लिया, जिसका प्रत्येक स्पन्दन मानव हृदय की धड़कन का प्रत्युत्तर देने लगा—

'बालकाल में जिसे जलद से
कुमुद कला ने किलकाया,
तारावलि ने जिसे रिझाया
मृदुस्वप्नों ने सुहलाया—
मारुत ने जिसकी अलकों में
चंचल चुम्बन उलझाया—'

धार्मिक आत्माएँ समस्त प्राकृतिक सौंदर्य को उस प्रियतम का प्रतिबिम्ब मानकर भावमग्न होने लगीं—और आध्यात्मिकता के फेर में न पड़ने वाले कवि भी उसके बाह्य रूप रंग पर मुग्ध होकर उसकी ओर श्रद्धा और भक्ति नहीं तो कम से कम एक विशेष कोमल भावना

लिये हुए बढ़ने लगे। प्रकृति के साधारण से साधारण उपादान भी एक अनिवार्य शोभा और रहस्य से समन्वित जान पड़े। भावुक नैपाली कवि ने पीपल और हरी घास में अभूतपूर्व सौन्दर्य ढूंढ निकाला—

कितने भी हैं उसमें कोटर सब पंछी गिलहरियों के घर।
संध्या को दिन जब जाता ढल सूरज चलते हैं अस्ताचल

कर में समेट किरणें उज्ज्वल!

हो जाता है सुनसान लोक चल पड़ते घर को चील कोक।
भरजाता है कोटर—कोटर बस जाते हैं पत्तों के घर।

घर-घर में आती नींद उतर!

प्रकृति एक खुला हुआ ग्रन्थ होगया, जिसका अध्ययन एक प्रत्यक्ष रूप से ही किया जा सकता था। अतः इस युग के प्रकृति—चित्रण सुने— सुनाये नहीं, ये प्रत्यक्ष आँख खोल कर देखे हुए चित्रों की अंकित प्रतिमूर्ति हैं। प्रकृति अब उद्दीपन मात्र न रह गई, वह स्वयं आलम्बन होगई और कवियों की अन्तर्दृष्टि उसके एक एक व्यापार का, एक एक प्रत्यय का अत्यन्त सूक्ष्म चित्रण करने लगी, पन्त जी के प्रकृति-चित्रों में कवि की भावमग्नता के साथ चित्रकार की चित्रकला और वैज्ञानिक की तीव्र दृष्टि का भी संयोग मिलता है। देखिये, आपका संध्या वर्णन कितना दिव्य है—

'कहो तुम रूपसि कौन !
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया छवि में आप
सुनहला फैला केश--कलाप
मधुर-मंथर मृदु मौन ?

× × ×

ग्रीव तिर्यक् चम्पक-श्रुतिगात
नयन मुकुलित नत मुख जलजात
देह छवि छाया में दिन रात
कहाँ रहती तुम कौन ?

मानव जगत् के प्रति भावना

इससे पूर्व हमारे कवि या तो अवतारों को या ऐश्वर्यशाली अधिपतियों को काव्य का आलम्बन मानते रहे थे। इसका कारण उनकी भक्ति-भावना और पुरुस्कार-लोभ के अतिरिक्त एक प्राचीन परम्परा भी थी जो सदा से कविता का क्षेत्र राजमहल अथवा पुराण कथाओं तक ही परिसीमित करती आई थी। यह नवजागृति पश्चिम से आई थी अतः इसमें वहाँ के साम्यवादी विचारों का पूर्ण प्रभाव था और हमारे कविगण काँचन में ही कवित्व टटोलते रहने के स्थान में अब निर्धन कुटीद्वारों की ओर आकर्षित होने लगे। कविवर सियारामशरण के ग्रन्थ 'आर्द्रा', दूर्वादल, विषाद आदि इसके प्रबल उदाहरण हैं मानव का सबसे बड़ा गौरव उसका मानवत्व है।

भाग्य पीड़ित-मूक-जनता की आहों में अब हमारे सहृदय कवि भारती के भव्य गान सुनने लगे। कविवर 'निराला' का पछताता पथ पर चलता हुआ भिखारी उनकी समवेदना का अभिसंवादी ज्ञापक है। कामिनी का सौन्दर्य एक विशेष रंग से रंग गया और शिशुओं के भोले आनन में एक अपूर्व रहस्य और क्षेत्र का दर्शन होने लगा—

ओस विन्दु की सुषमा लेकर।
फूलों की भोली मुसकान।
देकर उडु रहस्य का मृदु रंग।
तुम्हें बनाया हे द्युतिमान।

× × ×

वत्स तुम्हारे चकित नयन में।
किस अतीत की याद विचित्र।
जाग्रत मूर्छा के परदे में।
दिखा रही वह धुँधले चित्र।

पुरातन के प्रति प्रत्यावर्तन

इन छायावादी कवियों ने यद्यपि अपने निकट पूर्ववर्ती कालकी प्रवृत्तियों के विरुद्ध क्रान्ति उपस्थित की हैं, परन्तु फिर भी दूरवर्ती धुँधले रहस्यपूर्ण पुरातन के प्रति इनमें बड़ी श्रद्धा और सम्मान की भावना है। इसका कारण वर्त्तमान के प्रति असन्तोष ही है रहस्य भावना की दृष्टि से भी वह बड़े महत्व का है। अतः विस्मृति

के गहन गर्त में पड़ा हुआ हमारा जादू का अतीत इन कवियों की आश्रय भूमि बन गया है। वर्तमान के संघर्ष से व्यथित होकर प्रायः ये उसी अतीन्द्रिय लोक में विचरण किया करते हैं और अपनी प्रतिभा की सर्चलाइट फेंक कर उस अन्धकार-गर्भ से विचित्र काव्य-उपादान ढूँढ़ निकालते हैं। वास्तव में हमारा गौरवपूर्ण अतीत इन भावुक कलाकारों के लिये काव्य-सामग्री का एक अक्षय भाण्डार है जिसमें प्रवेश करके यथेच्छ रूप से मोती पाते रहते हैं। इस युग के सार्वभौम कलाकार 'प्रसाद' जी की कल्पना का तो चिरपरिचित क्रीड़ाक्षेत्र सा हो गया है। पुरातन काल की अद्भुत एव रहस्यपूर्व विचित्रताएँ इन कवियों के अद्भुत प्रेम को परितृप्त करने में वहुत सफल रहीं। पन्त जी उसी पुरातन के लिये व्याकुल होकर कह उठते हैं—

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, कह सुवर्ण का काल।
भूतियों का दिगन्त छबि-जाल
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल ?"

आत्माभिव्यञ्जन (व्यक्तित्व)

रीतिकाल के कवियों में आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में एक बड़ा दोष यह था कि रूढ़ियों के गोरखधन्धे में जकड़कर उनका व्यक्तित्व पूर्णतया लुप्त हो गया था। व्यक्तित्व की छाप थोड़े से ही कवियों में कुछ भले ही मिले, परन्तु अधिकतर रीतिकाल का साहित्य अकर्तृत्व और निर्लेपता से पूर्णतया अभिव्याप्त है। परम्परा का पालन करते

रहने से कवियों के व्यक्तिगत भावों और आवेशों को बाहर निकालने के लिये कोई स्थान नहीं था। उनकी भावनाएँ वाह्यालंकार से दबकर वहीं शान्त हो जाती थीं। छायावाद का मूल ही उपयोगितावाद के विरुद्ध भावुकता का विद्रोह था, अतः सबसे पूर्व इन कवियों ने जिस प्रवृत्ति को प्रधानता दी वह थी उन्मुक्त आत्माभिव्यञ्जना। परम्परा के पाश में चिरकाल से बद्ध भावुकता एक साथ छटपटा कर अभिव्यक्त होने लगी और हृदय के समस्त आवेशों का, आत्मा के सम्पूर्ण स्पन्दनों का कवि की कृतियों में एक विशेष स्थान होने लगा। अब उसकी कल्पना स्वच्छ है—निमुक्त है। रूढ़ियों की क्षीण डोरी अब उसे बांध रखने में असमर्थ है। कवि के अपने व्यक्तिगत राग-विराग काव्य में बहुमूल्य समझे जाते हैं और किसी प्रकार का अनावश्यक संकोच अथवा संयम प्रतिभा के लिये स्वास्थ्यप्रद नहीं समझा जाता। श्रीमती वर्मा में यह आत्माभिव्यञ्जन बहुत पाया जाता है—यद्यपि उनका अपानापन जीवात्मा का प्रतिनिधि है, परन्तु फिर भी उसमें उनका निजी व्यक्तित्व कम नहीं। उनके सान्ध्यगीत नीरजा और नीहार तीनों में इसका प्राधान्य है। श्री भगवतीचरण वर्मा एवं बच्चन जी की आवेश-प्रधान कृतियां भी इस अहंभाव से मुखरित हैं।

बच्चन जी का 'कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा'—'कवि की निराशा' आदि गीत इसके प्रबल उदाहरण हैं। 'वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी' में बच्चन जी ने कितना व्यक्तिगत प्रहार किया है। भगवतीचरण वर्मा भी 'मेरी आग' में कहते हैं—

जल उठ जल अरी धधक उठ, महानाश सी मेरी आग !'

नीति विद्रोह

जैसा कि पूर्व ही निवेदन किया जा चुका है कि छायावाद का जन्म ही विद्रोह में है—यह विद्रोह भावनाओं और विचारों में भी है और शैली एवं काल में भी विचारों के क्षेत्र में सब से पहले मानसिक स्वातन्त्र्य का धार्मिक बन्धनों के प्रति विरोध हुआ और इस युग के कुछ स्वच्छन्द कवियों ने नीति एवं धर्म की बेड़ियाँ तोड़ने का प्रयत्न भी किया। नवीन जी एक साथ कह उठे—

यों भुज भर कर हिय लगाना है क्या कोई पाप ?
ललचाते अधरों का चुम्बन क्यों है पाप-कलाप।

इसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा ने भी 'तारा' में धर्म की अपने ढङ्ग से व्याख्या की है। इधर बच्चन जी का फारसी रङ्ग में रङ्गा हुआ हालावाद भी इसी भावना का प्रतिफलन है—उन्होंने भी अपनी मधुशाला को मन्दिर और मसजिद से ऊँचा स्थान दिया है। यही विद्रोह असफल होकर जब निराश हो जाता है, तो इसका रूप बड़ा भयङ्कर और विकराल हो जाता है और चारों ओर से ठुकराए हुए कवि की आत्मा प्रलय के गान गाने लगती है 'जल उठ जल उठ अरी, धधक उठ महानाश सी मेरी आग !' संसार में एक ज्वालामुखी फूट निकलता है—पर निराश्रित कवि गाता ही जाता है—

एक बार बस और नाच तू श्यामा !'

करुणा की धारा-दुःखवाद

इस युगनवीन जागृति के कारण उत्साह, स्फूर्ति और उमंग तो काफी आई, परन्तु बार बार विफलता ने आकर रस में विष घोल दिया—क्रांति असफल होकर अपने प्रति विद्रोह कर उठी और करुणा का एक अन्तर्प्रवाह भी उसके साथ बह निकला। मर्दित अभिलाषाएँ बन्दिनी होकर एक साथ चीत्कार कर उठीं—यही कारण है कि छायावाद की कविता में करुणा पूर्णरूप से व्याप्त है और दुःखवाद एक नया वाद ही हो गया है। वास्तव में देश जिस वातावरण में श्वास-प्रश्वास ले रहा है, वही निराशा और अन्धकारसे परिपूर्ण है। विद्रोह और आवेश एक विशाल शिलाखंड से टकराकर फिर लौट जाते हैं और अपने ही हृदय के अन्दर पुनःकथन कर निकलते हैं। इसी कारण दुःख के लिए चिर अभ्यासी कवियों के हृदय में उसके प्रति एक मोह विशेष हो गया है और वे अपने इष्ट को भी पीड़ामय देखना चाहते हैं—"तुमको पीड़ा में ढूंढा, तुममें ढूंढूंगी पीड़ा !" अब सदैव ही आँसू के सागर भरते रहना इन कवियों को प्रिय है—

'रहने दो प्यासी आँखें
भरती आँसू के सागर।'

रहस्यवाद

जैसा कि मैं पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ, छायावाद में रहस्य प्रवृत्ति का प्राधान्य है। एक प्रकार से अद्भुत और रहस्य उसके

आधार-भूत तत्व हैं । इसका कारण है भौतिकता के विरुद्ध प्रतिवर्तन द्विवेदी-कालीन कवियों की क्रीड़ाभूमि, उनका निकटवर्ती धार्मिक संसार रह गया था, अतः स्वभावतः ही उनका विरोध करने वाले कवि दूर, धुंधले एवं रहस्यमय लोक की ओर बढ़ने लगे । इसके लिये कवीन्द्र रवीन्द्र की गीताञ्जलि, अंगरेजी के भावयोगी कवि तथा हिन्दी के प्राचीन रहस्यवादियों से विशेष प्रोत्साहन मिला और वे उस अज्ञात के प्रति जिज्ञासा प्रकट करने लगे । वास्तव में यह प्रतिवर्तन का ही फल था और हमारे भावुक कवि किसी धार्मिक प्रेरणा से इस ओर इतने आकृष्ट नहीं हुए थे जितने कि अपनी भावुकता और कल्पना के व्यायाम के लिये एक विस्तृत क्षेत्र पा जाने के कारण । इसी कारण आधुनिक छायावाद को विशेष अध्यात्मिक दृष्टि से देखना उचित न होगा क्योंकि एक तो यह युग भी धार्मिकत का नहीं है दूसरे हमारे प्रतिनिधि कवियों का जीवन भी अधिकांश में पाश्चात्य प्रभावों से निर्मित है । केवल काव्यवस्तु के रूप में उन्होंने इस काव्य जिज्ञासा और उससे सम्बन्ध रखने वाले भिन्न भिन्न प्रश्नों को अपनाया है । हाँ, अपनी विकसित चिंतनशक्ति और विस्तृत दार्शनिक अध्ययन के द्वारा उसको बचाने का सफल प्रयत्न अवश्य किया है । श्रीमती वर्मा ने बौद्धदर्शन, एवं कविवर प्रसाद जी व निराला जी ने भारतीय अद्वैतवाद का अच्छा मनन किया है । फलतः उनके काव्यों में भावुकता और दार्शनिकता का सुन्दर समन्वय है । कविवर पन्त ने भी पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन द्वारा कुछ मौलिक सिद्धान्तों की सृष्टि और सुन्दर काव्यमय प्रयोग किया

है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे कवियों का रहस्यवाद उनकी धार्मिक आत्मानुभूति का फल तो किसी प्रकार नहीं हो सकता। हाँ, रहस्य प्रवृत्ति के कारण उनकी वृत्ति इसमें प्रायः सभी ओर अपनी कल्पना और चिन्तन शक्ति के बल पर उन्होंने इन रहस्यमय प्रश्नों पर काव्य का सुनहरा आवरण बड़े सुचारु रूप से चढ़ाया। कुछ कवियों की कृतियाँ इसका अपवाद भी हैं।[1] जैसे कविवर मैथलीशरण की 'झंकार' उसमें धार्मिकता न देखना कवि के व्यक्तित्व के प्रति अन्याय होगा। एक बात अवश्य है कि झंकार का कवि भक्तिपथ का पथिक होने के कारण रहस्यवादी रचनाएँ करने में बहुत अधिक सफल नहीं हो सका।

